वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४८ अंक ३ मार्च २०१०
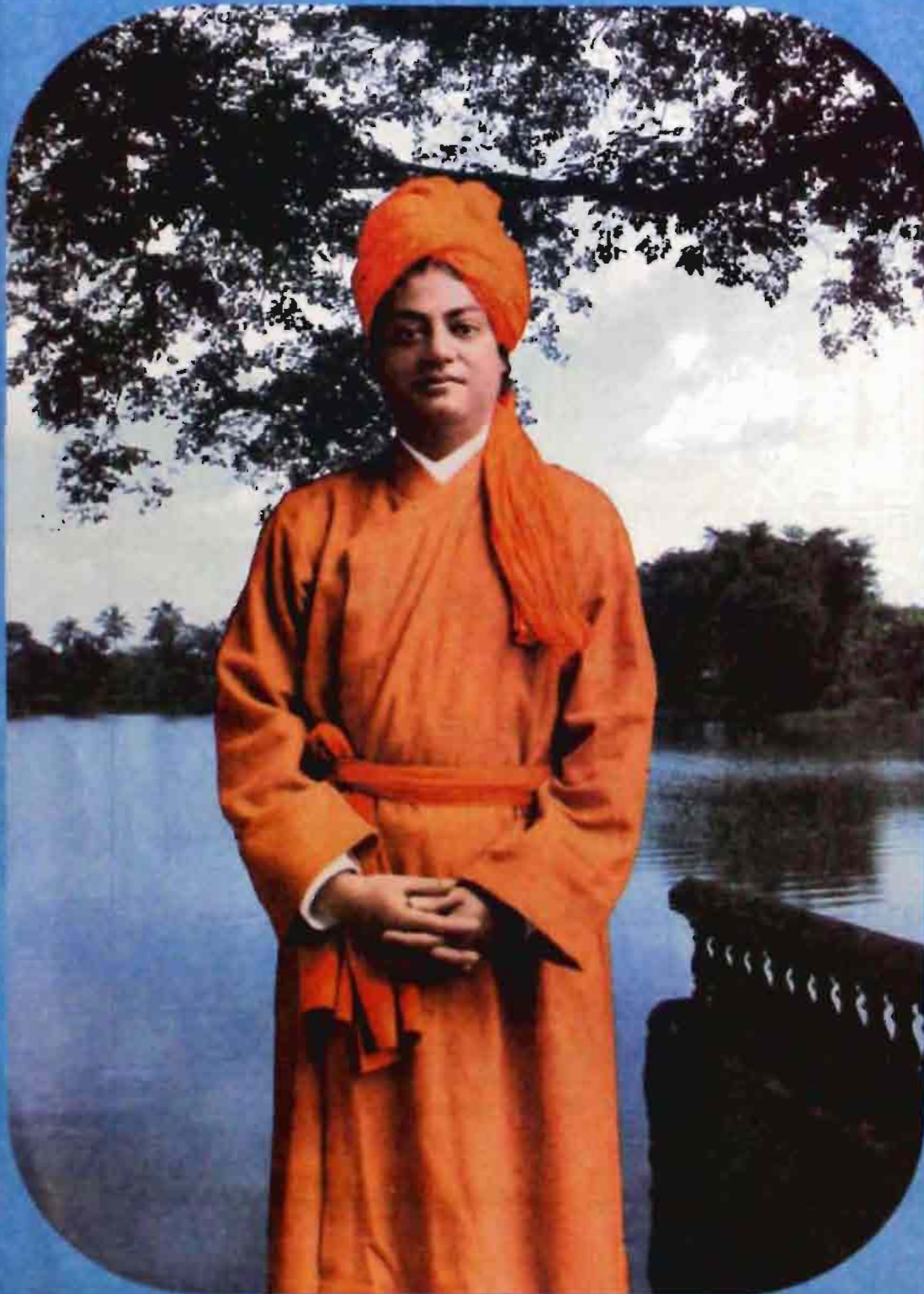
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखःभाग्भवेत्॥
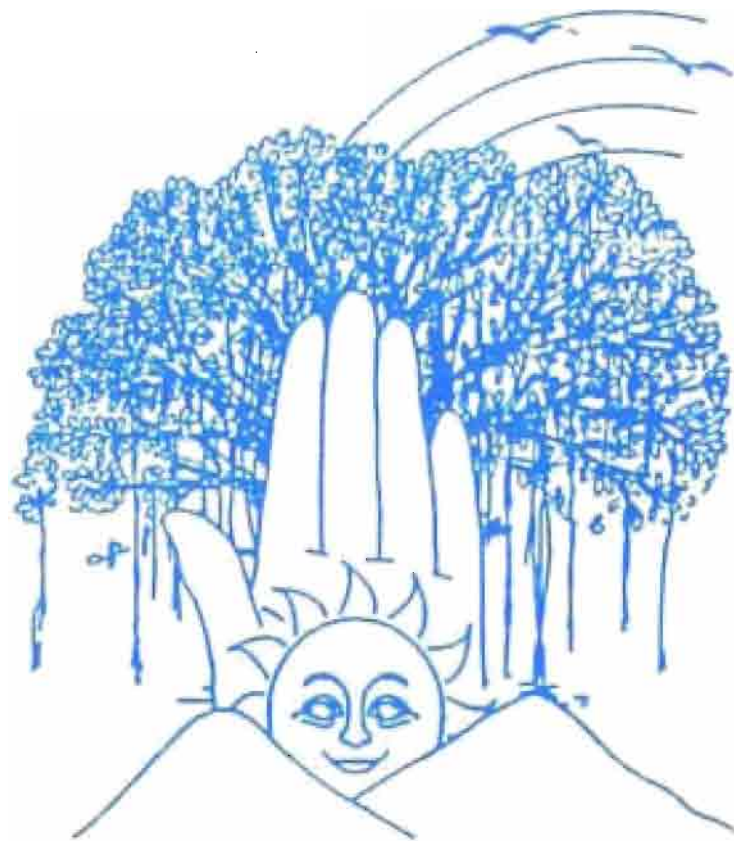
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक ३

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

माया मायाकार्यं सर्वं महदादिदेहपर्यन्तम् ।
असदिदमनात्मतत्त्वं विद्धि त्वं मरुमरीचिकाकल्पम् ।।१२३

अन्वय – माया मायाकार्यं महत्–आदि–देहपर्यन्तं सर्वं असत् अनात्मतत्त्वं इदम् मरुमरीचिका–कल्पम् त्वं विद्धि ।

अर्थ – माया तथा महत् तत्त्व से लेकर देह तक माया के कार्यरूप सब कुछ मिथ्या तथा अनात्मा है । इसे तुम मरु-मरीचिका के समान (भ्रान्ति मात्र) समझो ।

अथ ते संप्रवक्ष्यामि स्वरूपं परमात्मनः ।
यद्विज्ञाय नरो बन्धान्मुक्तः कैवल्यमश्नुते ।।१२४।।

अन्वय – अथ ते परमात्मनः स्वरूपं संप्रवक्ष्यामि, नरः यत् विज्ञाय बन्धात्–मुक्तः कैवल्यम् अश्नुते ।

अर्थ – अब मैं तुम्हें परमात्मा का स्वरूप विशेष रूप से बताता हूँ, जिसे जान लेने के बाद मनुष्य बन्धन से मुक्त हो जाता है और कैवल्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।

अस्ति कश्चित्स्वयं नित्यमहंप्रत्ययलम्बनः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन् पञ्चकोशविलक्षणः ।।१२५।।

अन्वय – पञ्चकोश–विलक्षणः, अवस्था–त्रय–साक्षी सन् नित्यं अहं–प्रत्यय–लम्बनः कश्चित् स्वयं अस्ति ।

अर्थ – अन्नमय आदि पंचकोशों से पृथक्, जाग्रत-स्वप्न -सुषुप्ति – इन तीन अवस्थाओं का साक्षी, 'मैं'-'मैं' – बोध का नित्य आधार – किसी चैतन्य तत्त्व का अस्तित्व है ।

यो विजानाति सकलं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
बुद्धितद्वृत्तिसद्भावमभावमहमित्ययम् ।।१२६।।

अन्वय – यः जाग्रत–स्वप्न–सुषुप्तिषु सकलं बुद्धि–तद्–वृत्ति–सद्भावं अभावं – 'अहम्' इति विजानाति (सः) अयम् ।

अर्थ – जो जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति – तीनों अवस्थाओं में बुद्धि की क्रिया – उसकी वृत्तियों की विद्यमानता तथा अभाव को, 'मैं' के रूप में जानता है, वही यह आत्मा है ।

यः पश्यति स्वयं सर्वं यं न पश्यति कश्चन ।
यश्चेतयति बुद्ध्यादि न तद्यं चेतयत्ययम् ।।१२७।।

अन्वय – यः स्वयं सर्वं पश्यति, कः–चन यं न पश्यति, यः बुद्धि आदि चेतयति, यं तत् न चेतयति, अयम् (आत्मा) ।

अर्थ – जो स्वयं सब कुछ देखता है, पर जिसे कोई भी नहीं देखता; जो बुद्धि-प्राण-इन्द्रियों आदि को चेतना देता है, पर बुद्धि आदि जिसे प्रकाशित नहीं कर पाते, वही आत्मा है ।

येन विश्वमिदं व्याप्तं यं न व्याप्नोति किञ्चन ।
आभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्ययम् ।।१२८।।

अन्वय – इदम् विश्वम् येन व्याप्तं, यं किञ्चन न व्याप्नोति, इदं सर्वं आभारूपम् यं भान्तम् अनुभाति, अयम् (आत्मा इति) ।

अर्थ – जो इस सम्पूर्ण (स्थूल-सूक्ष्म) जगत् में व्याप्त है, परन्तु जिसे कोई भी व्याप्त नहीं कर सकता, यह विश्व जिसकी छाया-रूप है और जिसके प्रकाशित होने से यह सब कुछ प्रकाशित होता है – वही आत्मा है ।

यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोधियः ।
विषयेषु स्वकीयेषु वर्तन्ते प्रेरिता इव ।।१२९।।

अन्वय – यस्य सन्निधि–मात्रेण देह–इन्द्रिय–मनः–धियः स्वकीयेषु विषयेषु प्रेरिताः इव वर्तन्ते (अयम् आत्मा इति) ।

अर्थ – जिसके सान्निध्य मात्र से ही देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने विषयों में मानो प्रेरित होकर लगी रहती हैं, वही यह 'आत्मा' है ।

भारत का भविष्य

(भैरवी – कहरवा)

भारत पहले जग में 'सोने
की चिड़िया' कहलाता था,
इसके गौरव के आगे, जग
का मस्तक झुक जाता था ।।

लेकिन दुर्दिन के चलते,
निर्धन अवनत यह देश हुआ,
जातिभेद औ छूतवाद का,
जबसे रोग-प्रवेश हुआ ।।

एक सहस्त्र वर्ष तक हमने,
कष्ट उठाये हैं अगणित,
रौंदे जाते रहे सभी के पाँवों
तले, दलित-पीड़ित ।।

अब फिर कालचक्र घूमा है,
जाग रहा यह देश महान्,
इसकी सेवा में जुट जाओ,
तजकर स्वार्थ और अभिमान ।।

महिमामय भारत गढ़ने का,
आया है यह स्वर्णिम योग,
आपस में यदि रहे झगड़ते,
जग में पिछड़ेंगे हम लोग ।।

विविध जातियाँ बहु भाषाएँ,
भाँति-भाँति के मत-आचार,
सबको लेकर गठित हुआ है,
यह अखण्ड भारत-परिवार ।।

सभी मतों का महा-समन्वय,
साधित होगा इस धरती पर,
संस्कृति ही 'विदेह' जोड़ेगी,
सबको एक लड़ी में पो कर ।।

महान् धर्माचार्यगण

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रत्येक देश के आध्यात्मिक जीवन में पतन और उत्थान के युग होते हैं। जब देश की अवनति होती है, तो लगता है कि उसकी जीवनी-शक्ति नष्ट हो गयी है – छिन्न-भिन्न हो गयी है। परन्तु वह पुन: बल संग्रह करती है – उन्नति करने लगती है – जागृति की एक विशाल लहर उठती है और हर बार यही देखने में आता है कि इस विशालकाय तरंग के उच्चतम शिखर पर कोई दिव्य महापुरुष विराजमान हैं। एक ओर जहाँ वे उस तरंग – राष्ट्र के अभ्युत्थान के शक्तिदाता होते हैं, वहीं दूसरी ओर वे स्वयं उस महती शक्ति के फलस्वरूप होते हैं, जो उस अभ्युदय – उस तरंग का मूल है। इस प्रकार वे एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं – परस्पर के स्रष्टा तथा सृष्ट हैं – जनक तथा जन्य हैं। वे एक ओर समाज को अपनी महान् शक्ति से प्रभावित तथा अभिभूत करते हैं, वहीं दूसरी ओर समाज ही उनकी इस प्रचण्ड शक्ति के आविर्भाव का कारण होता है। ये ही संसार के महान् विचारक तथा मनीषी होते हैं, ये ही दुनिया के पैगम्बर, जीवन-दर्शन के सन्देश-वाहक ऋषि और ईश्वर के अवतार कहलाते हैं।[११]

श्रीराम और सीता

प्राचीन वीर युगों के आदर्श स्वरूप, सत्य-परायणता तथा समग्र नैतिकता के साकार मूर्ति स्वरूप, आदर्श तनय, आदर्श पति, आदर्श पिता और सर्वोपरि आदर्श राजा – श्रीराम का चरित्र हमारे सम्मुख महान् ऋषि वाल्मीकि के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। ... और सीता के विषय में क्या कहा जाय। तुम संसार के समस्त प्राचीन साहित्य को छान डालो, और मैं तुमसे नि:संकोच कहता हूँ कि तुम संसार के भावी साहित्य का भी मन्थन कर सकते हो, परन्तु उसमें से तुम सीता के समान दूसरा चरित्र नहीं निकाल सकोगे। सीता-चरित्र अद्वितीय है। यह चरित्र सदा के लिये एक ही बार चित्रित हुआ है। राम तो कदाचित् अनेक हो गये हैं, किन्तु सीता दूसरी नहीं हुईं। भारतीय स्त्रियों को जैसा होना चाहिये, सीता उनके लिये आदर्श हैं। स्त्री-चरित्र के जितने भारतीय आदर्श हैं, वे सब सीता के ही चरित्र से उत्पन्न हुए हैं।[१२]

राम, वृद्ध महाराजा (दशरथ) की आत्मा थे, लेकिन वे राजा थे और अपने वचन से पीछे नहीं हट सकते थे।[१३]

सीता मूर्तिमान सतीत्व थीं। उन्होंने अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के शरीर का स्पर्श तक नहीं किया।

''पवित्र? वे तो सतीत्व-स्वरूपिणी हैं'' – राम ने कहा। ... राम ने अपने शरीर का उत्सर्ग कर परलोक में सीता को प्राप्त किया।

सीता – पवित्र, निर्मल, समस्त दु:ख झेलनेवाली ! भारत में उस प्रत्येक वस्तु को सीता नाम दिया जाता हैं, जो शुभ, निर्मल और पवित्र होती है; नारी में नारीत्व का जो गुण है, वह सीता है। सीता – धैर्यवान, सब दु:खों को झेलने वाली, पतिव्रता, नित्य साध्वी पत्नी ! उन्होंने तमाम कष्ट झेले, पर राम के विरुद्ध एक भी कठोर शब्द नहीं कहा। सीता में प्रतिहिंसा कभी नहीं थी। 'सीता बनो !'[१४]

भगवान श्रीकृष्ण

वे एक ही स्वरूप में अपूर्व संन्यासी और अद्भुत गृहस्थ थे; उनमें अत्यन्त अद्भुत रजोगुण तथा शक्ति का विकास था और साथ ही वे अत्यन्त अद्भुत त्याग का जीवन बिताते थे। बिना गीता का अध्ययन किये कृष्ण-चरित्र कभी समझ नहीं आ सकता, क्योंकि वे अपने उपेदशों के जीवन्त स्वरूप थे। प्रत्येक अवतार, जिस सन्देश का प्रचार करने आये थे, वे उसके जीवित उदाहरण के रूप में अवतरित हुए। गीता के प्रचारक श्रीकृष्ण सदा भगवद्-गीता के उपदेशों की साकार मूर्ति थे, वे अनासक्ति के उज्ज्वल उदाहरण थे। उन्होंने अपना सिंहासन त्याग दिया और कभी उसकी चिन्ता नहीं की। जिनके कहने से ही राजा अपने सिंहासनों को छोड़ देते थे, ऐसे समग्र भारत के नेता ने स्वयं कभी राजा नहीं होना चाहा। उन्होंने बाल्यकाल में जिस सरल भाव से गोपियों के साथ क्रीड़ा की, जीवन की अन्य अवस्थाओं में भी उनका वह सरल स्वभाव नहीं छूटा। उनके जीवन की वह चिर-स्मरणीय घटना याद आती है, जिसे समझना अत्यन्त कठिन है। जब तक कोई पूर्ण ब्रह्मचारी और पवित्र स्वभाव का नहीं बनता, तब तक उसे इसके समझने की चेष्टा करना उचित नहीं। उस प्रेम के अत्यन्त अद्भुत विकास को, जो

उस वृन्दावन की मधुर लीला में रूपक भाव से वर्णित हुआ है, प्रेमरूपी मदिरा के पान से जो उन्मत्त हुआ हो, उसको छोड़कर और कोई नहीं समझ सकता। कौन उन गोपियों के प्रेम से उत्पन्न विरह-यंत्रणा के भाव को समझ सकता है; जो प्रेम आदर्श स्वरूप है, जो प्रेम प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, जो प्रेम स्वर्ग की भी आकांक्षा नहीं करता, जो प्रेम इहलोक और परलोक की किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता? ... वे श्रीकृष्ण के प्रति उपयोग किये जानेवाले किसी भी विशेषण को घृणा करती हैं, वे यह जानने की चिन्ता नहीं करतीं कि कृष्ण सृष्टिकर्ता हैं, वे यह जानने की चिन्ता नहीं करतीं कि वे सर्वशक्तिमान हैं, वे यह जानने की भी चिन्ता नहीं करतीं कि वे सर्व-सामर्थ्यवान हैं। वे केवल यही समझती हैं कि कृष्ण प्रेममय हैं, यही उनके लिये पर्याप्त है। गोपियाँ श्रीकृष्ण को केवल वृन्दावन का कृष्ण ही समझती हैं। अनेक सेनाओं के नेता, राजाधिराज श्रीकृष्ण उनके निकट सदा एक गोप ही रहे।

न धनं न जनं सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि ।।

– 'हे जगदीश ! मैं धन, जन, कविता अथवा सुन्दरी – कुछ भी नहीं चाहता। हे ईश्वर, आपके प्रति जन्म-जन्मान्तरों में मेरी अहैतुकी भक्ति हो।' यह अहैतुकी भक्ति, यह निष्काम कर्म, यह निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा का आदर्श धर्म के इतिहास में एक नया अध्याय है। मानव-इतिहास में प्रथम बार भारतभूमि पर सर्वश्रेष्ठ अवतार श्रीकृष्ण के मुँह से पहली बार यह तत्त्व निकला था। भय और प्रलोभनों के धर्म सदा के लिये विदा हो गये और मनुष्य-हृदय में नरक-भय और स्वर्ग-सुख-भोग के प्रलोभन होते हुए भी, इस सर्वोत्तम आदर्श का उदय हुआ – प्रेम के निमित्त -प्रेम, कर्तव्य के निमित्त कर्तव्य, कर्म के निमित्त कर्म।

और यह प्रेम कैसा है? मैंने तुम लोगों से कहा है कि गोपी-प्रेम को समझना बड़ा कठिन है। ... पहले कांचन, नाम तथा यश और क्षुद्र मिथ्या संसार के प्रति आसक्ति को छोड़ो। तभी, केवल तभी तुम गोपी-प्रेम को समझोगे। यह इतना विशुद्ध है कि बिना सब कुछ छोड़े इसको समझने की चेष्टा करना ही अनुचित है। जब तक अन्त:करण पूर्ण रूप से पवित्र नहीं होता, तब तक इसको समझने की चेष्टा करना वृथा है। हर समय जिनके हृदय में काम, धन, यशोलिप्सा के बुलबुले उठते हैं, ऐसे लोग गोपी-प्रेम की चर्चा करने तथा समझने का साहस करते हैं !

कृष्ण-अवतार का मुख्य उद्देश्य इसी गोपी-प्रेम की शिक्षा है, यहाँ तक कि गीता का महान् दर्शन भी उस प्रेमोन्मत्तता की बराबरी नहीं कर सकता। क्योंकि गीता में साधक को धीरे -धीरे उसी चरम लक्ष्य – मुक्ति के साधन का उपदेश दिया गया है, पर इसमें रसास्वाद की उन्मत्तता, प्रेम की मदोन्मत्तता विद्यमान है, यहाँ गुरु तथा शिष्य, शास्त्र तथा उपदेश, ईश्वर तथा स्वर्ग – सब एकाकार हैं, भय के भाव का चिह्न तक नहीं है। सब बह गया है – शेष रह गयी है केवल प्रेमोन्मत्तता। उस समय संसार का कुछ भी स्मरण नहीं रहता, भक्त उस समय संसार में उसी कृष्ण, एकमात्र उसी कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता, उस समय वह समस्त प्राणियों में कृष्ण के ही दर्शन करता है, उसका मुँह भी उस समय कृष्ण के ही समान दीखता है, उसकी आत्मा उस समय कृष्णमय हो जाती है। यह है कृष्ण की महिमा !...

कृष्ण के जीवन-चरित्र में बहुत से ऐतिहासिक अन्तर्विरोध मिल सकते हैं, कृष्ण के चरित्र में बहुत से प्रक्षेप हो सकते हैं। ये सभी सत्य हो सकते हैं, तो भी उस समय समाज में जो एक अपूर्व नये भाव का उदय हुआ था, उसका कुछ आधार अवश्य था। अन्य किसी भी महापुरुष या पैगम्बर के जीवन पर विचार करने से यह जान पड़ता है कि वह पैगम्बर अपने पूर्ववर्ती कितने ही भावों का विकास मात्र है। हम देखते हैं कि उसने अपने देश में, यहाँ तक कि उस समय जैसी शिक्षा प्रचलित थी, केवल उसी का प्रचार किया है, यहाँ तक कि उस महापुरुष के अस्तित्व पर भी सन्देह हो सकता है, परन्तु मैं चुनौती देता हूँ कि कोई यह साबित कर दे कि कृष्ण के निष्काम कर्म, निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा और निष्काम प्रेम-तत्त्व के ये उपदेश संसार में मौलिक आविष्कार नहीं हैं। यदि ऐसा नहीं कर सकते, तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी एक व्यक्ति ने निश्चय ही इन तत्त्वों को प्रस्तुत किया है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये तत्त्व किसी दूसरे मनुष्य से लिये गये हैं। कारण यह कि कृष्ण के उत्पन्न होने के समय सर्व-साधारण में इन तत्त्वों का प्रचार नहीं था। भगवान श्रीकृष्ण ही इनके प्रथम प्रचारक हैं। उनके शिष्य व्यासदेव ने पूर्वोक्त तत्त्वों का आम लोगों में प्रचार किया। ...

हम उस आदर्श-प्रेमी श्रीकृष्ण का वर्णन छोड़कर और भी नीचे की तह में प्रवेश करके गीता-प्रचारक श्रीकृष्ण की विवेचना करेंगे। यहाँ भी हम देखते हैं कि गीता के समान वेदों का भाष्य कभी नहीं बना है और न बनेगा। श्रुति या उपनिषदों का तात्पर्य समझना बड़ा कठिन है, क्योंकि विभिन्न भाष्यकारों ने अपने-अपने मतानुसार उनकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। अन्त में, जो स्वयं श्रुति के प्रेरक हैं, उन्हीं भगवान ने आविर्भूत होकर गीता के प्रचारक रूप से श्रुति का जैसा अर्थ समझाया, आज भारत को उसी व्याख्या-प्रणाली की आवश्यकता है, सारे संसार को उसी की आवश्यकता है। ... एक अद्वैतवादी भाष्यकार ने किसी उपनिषद् की व्याख्या की, जिसमें बहुत से द्वैतभाव के वाक्य हैं। उसने

(शेष पृष्ठ ११७ पर)

नाम की महिमा (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

राम एक तापस तिय तारी ।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।

– श्रीराम ने तो केवल एक तपस्वी स्त्री का उद्धार किया, परन्तु उनके नाम ने करोड़ों दुष्ट बुद्धिवालों को सुधार दिया।

रिषि हित राम सुकेतुसुता की ।
सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।
सहित दोष दुख दास दुरासा ।
दलइ राम जिमि रबि निसि नासा ।। १/२४/३-५

– श्रीराम ने तो ऋषि विश्वामित्र के हितार्थ, सेना तथा पुत्र सुबाहु सहित सुकेतु-कन्या ताड़का का वध किया, परन्तु उनके नाम ने अपने भक्तों के दोषों, दुःखों तथा दुराशाओं का वैसे ही नाश कर दिया जैसे सूर्य रात्रि का।

भगवान श्रीराम के द्वारा जो कार्य त्रेतायुग में किए गये, नाम-रामायण में उसके साथ तुलना करते हुए गोस्वामीजी बताते हैं कि आज वही कार्य भगवान के नाम के द्वारा हमारे जीवन में सम्पन्न होता है। व्यक्ति को ऐसा लग सकता है कि त्रेतायुग में जो पात्र थे और उनकी जो समस्याएँ थीं, वे आज नहीं हैं, तो फिर आज की परिस्थिति में नाम-रामायण की क्या सार्थकता हो सकती है? इन पंक्तियों में गोस्वामीजी हमें एक दृष्टि देते हैं कि 'मानस' में जिन पात्रों या घटनाओं का वर्णन किया गया है, वे ही पात्र हमारे जीवन में विद्यमान हैं और वे ही घटनाएँ घटित होनी चाहिये। इसी क्रम में उन्होंने अहल्या का उद्धार, ताड़का-वध और उसके दो पुत्रों का उल्लेख किया है। वे इन पात्रों का परिचय भी देते हैं।

अब जरा ताड़का के पुत्रों पर दृष्टि डालने की चेष्टा करें। ताड़का स्वयं तो यज्ञ की विरोधी है ही, उसने अपने पुत्रों को भी यही प्रेरणा दी है। उसके दोनों शक्तिशाली पुत्र जब यज्ञ की मंत्र-ध्वनि सुनते हैं या यज्ञ का धुँआ उठते हुए देखते हैं, तो आकाश मार्ग से आकर यज्ञस्थल को अपवित्र कर देते हैं और यज्ञ पूर्ण नहीं हो पाता। महर्षि विश्वामित्र जब भगवान श्री राघवेन्द्र को लेकर आश्रम में आये, तो प्रातःकाल उन्होंने महर्षि से अनुरोध किया – आप निर्भय होकर यज्ञ करें –

प्रात कहा मुनि सन रघुराई ।
निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई ।। १/२१०/१

मुनि-मण्डली निश्चिन्त और निर्भय होकर यज्ञ में प्रवृत्त होती है। वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। अग्नि में आहुति दी जाती है और तब उस ध्वनि को सुनकर मारीच तथा सुबाहु अपने सैनिकों को लेकर यज्ञस्थल में आते हैं और उस यज्ञ को अपवित्र करने की, नष्ट करने की चेष्टा करते हैं; परन्तु वे अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाते। श्री राघवेन्द्र इन दोनों पर प्रहार करने के लिए भिन्न प्रकार के बाणों का चुनाव करते हैं। इस प्रसंग की विचित्रता यह है कि दोनों ताड़का के पुत्र हैं और दोनों ही समान रूप से यज्ञ-ध्वंस के अपराधी हैं। ऐसी स्थिति में न्यायपूर्ण तथा स्वाभाविक प्रक्रिया तो यही होती कि इन दोनों राक्षसों को एक ही प्रकार का दण्ड दिया जाता। पर यहाँ विलक्षणता यह है कि इन दोनों राक्षसों के साथ भगवान ने भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार किया। पहले उन्होंने अपने धनुष पर पावकास्त्र चढ़ाया और उससे सुबाहु को जलाकर भस्म कर दिया। पर मारीच को न तो उन्होंने भस्म किया, न उसका सिर काटा, न अन्य प्रकार से उसका वध किया; बल्कि उस पर उन्होंने बिना फल के बाण का प्रयोग किया और वह बाण इतना शक्तिशाली था कि वह मारीच को यज्ञस्थल से दूर समुद्र के किनारे पहुँचा देता है। उधर मारीच और सुबाहु के साथ राक्षसों की जो एक बड़ी सेना आई हुई थी, उसे लक्ष्मणजी ने विनष्ट कर दिया। इस प्रकार महर्षि विश्वामित्र का यज्ञ पूर्ण हुआ।

मारीच तथा सुबाहु के प्रति व्यवहार की भिन्नता में ही आध्यात्मिक साधना का रहस्य छिपा हुआ है। रामायण की दृष्टि अगर केवल भौतिक इतिहास परक ही होती, तो दोनों को समान दण्ड की बात कही जाती। ऐसा तो हुआ नहीं कि मारीच ने आकर अपनी भूल स्वीकार की हो और भगवान ने उसे छोड़ दिया हो। एक ही तरह के ये जो दो अपराधी हैं, उसका आध्यात्मिक तात्पर्य क्या है? हमें सुबाहु और मारीच को पहचानना होगा। गोस्वामीजी मारीच की तुलना दोषयुक्त मन से करते हैं और सुबाहु की तुलना दुःख से करते हैं। तो मन में जो दोष हैं और उन दोषों से जो दुःख उत्पन्न होते हैं, पीड़ा उत्पन्न होती है, उसका समाधान क्या है?

ताड़का रूपी दुराशा का वध हो जाने का तात्पर्य यह है

कि मूल कारण पर प्रहार किया गया और अब उसके द्वारा नये पुत्रों को जन्म नहीं दिया जा सकता। परन्तु जिन्हें ताड़का ने जन्म दे दिया है और जो उनके संकेत पर यज्ञ का विरोध करते हैं, उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाय? साधक के सामने भी यही प्रश्न है कि उसके अन्तर्मन में जो दोष रूपी मारीच है, उनके प्रति साधक का क्या व्यवहार होना चाहिए? और दु:ख रूपी सुबाहु के विनाश की क्या प्रक्रिया हो?

मानस में विभिन्न बाणों के आध्यात्मिक अर्थ बताये गये हैं। भगवान श्रीराम विभीषणजी को धर्मरथ का उपदेश देते हुए बाणों के बारे में कहते हैं – शम (मनोनिग्रह), (अहिंसादि) यम और (शौचादि) नियम – ये विविध साधन ही बाण हैं –

सम जम नियम सिलीमुख नाना ।। ६/८०/९

पुराणों, महाभारत तथा राम-चरित-मानस में युद्धों का जो वर्णन हुआ है, उनमें युद्धस्थल में रावण तथा मेघनाद की ओर से भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग का वर्णन है; और दूसरी ओर भगवान श्रीराम और श्रीलक्ष्मण द्वारा भी विविध प्रकार के बाणों का प्रयोग किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्तर्जीवन के जो विविध प्रकार के दोष हैं, उन सब की प्रकृति एक ही प्रकार की नहीं है। और उन सबको विनष्ट करने के लिए किसी एक ही साधन का प्रयोग नहीं किया जा सकता। विभिन्न दोषों का निराकरण करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के बाण चलाये जाने चाहिए।

मेघनाथ भी बाण चलाने की कला में अत्यन्त निपुण हैं। राम-चरित-मानस में उसके बाणों के चमत्कार का वर्णन किया गया है। इसमें भी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया गया है। मेघनाद जब बन्दरों की विशाल संख्या को देखता है, तो वह सहसा आकाश में चला जाता है और वहाँ से एक बड़े ही विलक्षण बाण का प्रयोग करता है। उसके पास एक ऐसा चमत्कारपूर्ण बाण है, जिसका प्रयोग करने पर आकाश से अग्नि की वर्षा होने लगती है और पृथ्वी से जलधारा फूट पड़ती है –

नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा ।
महि ते प्रगट होहिं जलधारा ।। ६/५२/१

इस चमत्कारिक बाण का आध्यात्मिक तात्पर्य क्या है? मेघनाद की तुलना काम से की गई है –

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहंकार
पाकारिजित काम विश्रामहारी ।।

काम का एक विलक्षण कौशल है कि वह एक साथ ही अग्नि तथा जल की सृष्टि करने में सक्षम है। उसकी प्रक्रिया बड़ी विचित्र है। पृथ्वी पर कभी-कभी आग के टुकड़े पड़े रह जाते हैं या कभी-कभी लोग बीड़ी-सिगरेट पीकर डाल देते हैं। पर व्यक्ति यदि पाँवों में जूते पहने हुए है, तो स्वाभाविक है कि अग्नि उसके पैर को नहीं जलायेगी; और वर्षा ऋतु में या किसी भी ऋतु में जब आकाश से पानी बरसता है, तो हम सब सिर पर छाता लगाकर वर्षा से बच जाते हैं। परन्तु काम की समस्या इसलिए बड़ी जटिल है कि जब (एक साथ ही) आकाश से आग बरसे और धरती से जल निकलने लगे, तो न छाता काम देगा, न जूता। छाता लगाकर अग्निवर्षा से रक्षा नहीं हो सकती और जूता पहनकर नीचे उमड़ते हुए जल से बचना सम्भव नहीं है।

अभिप्राय यह कि अन्त:करण में जब काम की वृत्ति आती है, तो एक ओर तो हमारे अन्तर्मन में राग का जल उमड़ता है और दूसरी ओर द्वेष की अग्नि जलने लगती है। ये काम की दोनों प्रकृति एक साथ आती है। काम यदि किसी के प्रति राग की सृष्टि करेगा, तो उस राग की प्रतिक्रिया के रूप में वह अन्यों के प्रति द्वेष की सृष्टि अवश्य करेगा।

काम से जीतना इसीलिए बड़ा कठिन है कि वह एक साथ ही व्यक्ति के अन्त:करण में राग और द्वेष – दोनों की सृष्टि कर देता है। दोनों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। व्यक्ति, या तो राग में डूबकर मरे या द्वेष में जलकर मरे, दोनों मार रहे हैं। वैसे कई लोग अग्नि की तुलना में जल को ही पसन्द करेंगे कि कम-से-कम मरते समय तो ज्वाला का अनुभव न हो। उनमें राग के प्रति आकर्षण होता है, पर मिटाने वाले दोनों है। राग और द्वेष – दोनों की प्रवृत्ति हमें नष्ट करती है।

इस राग और द्वेष की प्रवृत्ति पर विजय कैसे पाया जाय? बन्दरों की तुलना भी साधकों से की गयी है। गोस्वामीजी विनय-पत्रिका में कहते हैं – ये जितने बन्दर हैं, इन्हें नाना प्रकार के साधन कह लीजिए या साधक कह लीजिए –

कैवल्य साधन अखिल भालु मरकट ।। ५८/८

साधक के सामने भी यह समस्या है कि जब उसके ऊपर काम का आक्रमण होता है, तो उसके अन्तर्मन में राग और द्वेष की सृष्टि होती है। यह संकेत 'मानस' के कई प्रसंगों में मिलेगा। इस राग और द्वेष की वृत्ति पर विजय को पाने का क्या उपाय है? यह कार्य लक्ष्मणजी को सौंपा गया। और तत्काल तो नहीं, पर अन्त में लक्ष्मणजी के द्वारा ही मेघनाद का वध होता है। राग और द्वेष का नाश अत्यन्त कठिन है।

शास्त्रों में एक बड़ी अनोखी कथा मिलती है। भगवान विष्णु के कान के मैल से दो राक्षस पैदा हो गये – मधु और कैटभ। वे इतने बड़े योद्धा थे कि कोई उन्हें मार ही नहीं पा रहा था। यहाँ भी वही संकेत है। ये मधु तथा कैटभ भी राग तथा द्वेष ही हैं। मधु राग है और कैटभ द्वेष। ये राग और द्वेष की प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि भगवान के सामने भी, इनमें लड़ने की अद्भुत क्षमता है। यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ व्यक्तियों के जीवन में भी राग की वृत्ति दिखाई देती है। अच्छे-से-अच्छे व्यक्तियों के जीवन में भी द्वेष पाया जाता है। राग और द्वेष से मुक्ति सम्भव नहीं

है। तो फिर उपाय क्या है? भगवान राघवेन्द्र लक्ष्मणजी को आदेश देते हैं – लक्ष्मण, मेघनाथ का वध करने में एकमात्र तुम्हीं सक्षम हो, तुम्हीं उसका वध कर सकते हो –

तुम्ह लछिमन मारेहु रन ओही ।। ८/७५/८

लक्ष्मणजी के स्वरूप की ओर आपका ध्यान गया होगा। लक्ष्मणजी कौन है? – मूर्तिमान वैराग्य।

राग की प्रतिक्रिया द्वेष है। ये परस्पर द्वन्द्वात्मक हैं – एक होगा, तो दूसरा भी होगा। राग को मिटाने के लिए द्वेष किया जाय; और द्वेष को मिटाने के लिए राग किया जाय, तब तो ये व्यक्ति के जीवन से समाप्त होनेवाले नहीं हैं। दूसरी ओर वैराग्य का अर्थ है – हमारे अन्तर्मन की रागवृत्ति का विनाश हो जाय और साथ ही द्वेष उत्पन्न न होकर उसके प्रति आकर्षण ही पूरी तौर से समाप्त हो जाय। पर द्वन्द्वात्मक रूप से यदि राग के बाद द्वेष होगा, तो समस्या का समाधान नहीं होगा। दूसरी ओर राग के बाद यदि विराग हो गया, यदि विराग के द्वारा राग नष्ट हो गया, तो फिर राग के प्रतिद्वन्द्वी द्वेष के उदय की कोई आशंका नहीं रहेगी।

इसीलिए भगवान श्रीराघवेन्द्र लक्ष्मणजी को यह भूमिका सौंपते हैं। और लक्ष्मणजी किस बाण के द्वारा मेघनाद का वध करते हैं? मेघनाद जब बुद्धि की निकुम्भला में प्रविष्ट हो गया – लड़ने के लिए वह यज्ञ के द्वारा बुद्धि में स्थित काम से शक्ति पाने की तैयारी कर रहा है। तो भगवान लक्ष्मणजी को आदेश देते हैं कि पहले जाकर तुम मेघनाद का यज्ञ नष्ट करो और उसके बाद मेघनाद का वध करो।

लक्ष्मणजी बन्दरों की सेना लेकर जाते हैं। बन्दर हैं – विविध प्रकार के साधन और लक्ष्मणजी हैं वैराग्य। तात्पर्य यह कि काम पर विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्रों में जो विभिन्न प्रकार के साधन बताए गये हैं, उन साधनों को लेकर बुद्धि में काम के प्रति जो महत्त्व-बुद्धि है, बस, उसी पर प्रहार करना होगा। अभिप्राय यह कि यदि बुद्धि में काम का प्रवेश हो जाय, तो उसे संयम के द्वारा मिटाने में कभी सफलता नहीं मिलेगी। यदि इन्द्रिय तथा मन में काम का प्रवेश है, तब तो संयम के द्वारा उसे जीता जा सकता है। परन्तु यदि बुद्धि में काम का प्रवेश हो गया है, बुद्धि में काम के प्रति महत्त्व-बुद्धि है, तो किसी भी नियम-व्रत-उपवास के द्वारा उस काम-वृत्ति को नहीं जीता जा सकता। उसके लिए इन साधनों का आश्रय लेते हुए भी विचार का आश्रय लिये बिना काम नहीं होगा। जैसे लोहे को काटने के लिए लोहे का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही बुद्धिस्थ काम के लिए वैराग्य की वृत्ति और वैराग्य के द्वारा जब विचार के बाण का प्रयोग होता है, तब उस पर विजय मिलती है। लक्ष्मणजी युद्ध करते हुए अन्त में निर्णय लेते हैं कि अब इसे विनष्ट करना है, तो वे इसके लिये विचार के बाण का सन्धान करते हैं और उसी से मेघनाद की मृत्यु हो जाती है। तो बुद्धि में आए हुए काम के दोष मिटाने के लिए विचार के बाण की जरूरत है। जब हम विचारपूर्वक बुद्धि में आए हुए काम के लाभ-हानियों पर विचार करेंगे, तब हम अन्य साधनों के साथ-साथ विचार के द्वारा काम पर विजय प्राप्त करेंगे।

रामायण में भिन्न-भिन्न पद्धतियों से युद्ध करने की कला है। दुर्गुणों के द्वारा जिस प्रकार प्रहार किया जाता है, दुर्गुणों की प्रकृति क्या है, उनको जीतने के लिए किस योद्धा का चुनाव किया गया, योद्धा ने किस बाण का प्रयोग किया – इसमें जो सूत्र है, वह साधना की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है।

कुम्भकर्ण आकर सारे बन्दरों को खाना प्रारम्भ कर देता है। ऐसा एक भी बन्दर नहीं बचा, जिसे कुम्भकर्ण ने हरा न दिया हो। कुम्भकर्ण मूर्तिमान अहंकार है और ये बन्दर साधन हैं। साधनों के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि कोई भी ऐसा साधन नहीं है, जिसमें अभिमान न आये। मात्रा का भेद हो सकता है; लेकिन साधन है, तो उसका अभिमान किसी-न-किसी मात्रा में व्यक्ति के अन्तःकरण में विद्यमान रहता है। इसीलिए वर्णन आता है कि कुण्भकर्ण ने किसी को मार डाला, किसी को मसल दिया, किसी को खा लिया और किसी को मूर्छित कर दिया। इसका अभिप्राय यह है कि अलग-अलग साधकों पर अहंकार का प्रभाव अलग-अलग प्रकार का होता है। इस प्रकार अहंकार की शक्ति अद्भुत रूप से सामने आती है। बन्दर भयभीत होकर भगवान को पुकारते हुए भागते हैं और जाकर उनसे कहते हैं – रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिये –

चले भागि कपि भालु भवानी ।
बिकल पुकारत आरत बानी ।।
कृपा बारिधर राम खरारी ।
पाहि पाहि प्रनतारति हारी ।। ६/७०/२, ४

इतने साधन करने पर भी हम सफल क्यों नहीं हो पाते? – कुम्भकर्ण सब खा लेता है। जब कोई साधन करते हैं, तो यह गर्व पाल लेते हैं कि मैं इतना जप करता हूँ, इतना पाठ करता हूँ, इतना व्रत करता हूँ, इतना दान करता हूँ – अपने प्रत्येक साधन के साथ ऐसा 'मैं' जोड़ लिया जाता है कि वह 'मैं' ही हमारे सारे सत्कर्म और साधनों को खाता जा रहा है।

अन्त में बन्दर रूपी साधन भगवान श्रीराघवेन्द्र का आश्रय लेते हैं। इसका अभिप्राय है कि बहुत-से साधन और सत्कर्म कर लेने के बाद भी जब हम इस अभिमान को न जीत सकें, तो अन्त में भगवान की शरणागति ग्रहण करें और उनसे प्रार्थना करें – प्रभो, हमसे जो भी सम्भव था, हमने किया, परन्तु अभिमान ने सब कुछ खा लिया, कुम्भकर्ण ने सब कुछ खा लिया। अब आप ही कृपा करके इसका संहार कीजिए।

इसके पहले सुग्रीव ने एक कला का प्रयोग किया था। कुम्भकर्ण ने सारे बन्दरों को मूर्छित करने के बाद, जब सुग्रीव पर प्रहार किया, तो वे मूर्छित हो गये। कुम्भकर्ण ने मूर्छित सुग्रीव को अपने बगल में दबा लिया। कुम्भकर्ण अभिमान है और सुग्रीव की तुलना साधन-ज्ञान से की गई है। ज्ञान की समग्रता तो यह है कि अभिमान न हो। परन्तु बहुधा दिखाई यह देता है कि ज्ञान का अभिमान भी साधारण नहीं होता। इसीलिए रामायण में एक ओर जहाँ ज्ञान की परिभाषा की गई है – ज्ञान वह है, जिसमें मान आदि एक भी दोष नहीं होता और जो सबसे समान रूप से ब्रह्म को देखता है –

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं ।
देख ब्रह्म समान सब माहीं ।। ३/१४/७

पर दूसरी ओर वेद जब भगवान की स्तुति करने आते हैं, तो एक वाक्य कहते हैं – प्रभो, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो ज्ञान पाकर भी नीचे गिर जाते हैं। क्यों गिर जाते हैं? क्योंकि वे मिथ्या ज्ञान के अभिमान में मतवाले हो जाते हैं –

जे ग्यान मान बिमत्त तव
भव हरनि भक्ति न आदरी ।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि
परत हम देखत हरी ।। ७/१३/छ.

जिस व्यक्ति ने ज्ञान प्राप्त करने के बाद जो ज्ञानीपन का अभिमान पाल लिया है, वह ऊपर से नीचे गिरे बिना नहीं रहेगा। ज्ञान तो हो, पर ज्ञानीपन का अभिमान न हो और यह बड़ा कठिन है। सुग्रीव को कुम्भकर्ण ने मूर्छित कर दिया, इसका अभिप्राय यह है कि अभिमान के सामने ज्ञान मरा तो नहीं, पर मूर्छित हो गया। ज्ञान की मृत्यु नहीं होती है। यह एक स्थूल निश्चित सिद्धान्त है कि एक बार ज्ञान होने के बाद, ऐसा तो हो सकता है कि ज्ञान पर कोई आवरण आ जाय, जैसे सूर्य और हमारी आँखों के सामने बादल आ जाय और बादल के आवरण के कारण सूर्य न दिखाई दे; परन्तु एक बार ज्ञान होने के बाद उसका विनाश नहीं होता।

कुम्भकर्ण सुग्रीव को मारने में सक्षम नहीं हैं, परन्तु वह उन्हें बगल में दबा लेता है और लौटता है। उस समय उसके मन में यह संकल्प था कि यही वह सुग्रीव है, जिसके बड़े भाई बालि ने मेरे बड़े भाई को बगल में दबा लिया था; तो चलो, मैं अपने बड़े भाई को प्रसन्न करूँगा कि लीजिये, आपका छोटा भाई बालि के छोटे भाई को बगल में दबाकर ले आया है। अब आप इसको अपनी सेवा में रख लीजिए।

ज्ञान यदि मूर्छित रहे, तो वह अभिमान का बन्दी होकर अन्ततोगत्वा मोह से जुड़ेगा और ऐसी स्थिति में ज्ञान की कोई भूमिका नहीं रह जायेगी। लेकिन सुग्रीव की मूर्छा दूर हो गई और उन्होंने अनुभव किया कि मैं तो कुम्भकर्ण की बगल में दबा हुआ हूँ। यह एक सुन्दर लक्षण है कि व्यक्ति एक बार बुराई के चक्कर में फँसकर भी इस वास्तविकता को समझ ले कि अरे, हमारे जीवन में यह अभिमान कहाँ से आ गया? श्रेष्ठ व्यक्ति भी कभी अभिमान की भाषा बोल देते हैं, अभिमान-युक्त व्यवहार कर देते हैं, पर उनकी विशेषता यह है कि वे अनुभव कर लेते हैं कि यह नहीं आना चाहिए। सुग्रीव ने यही अनुभव किया और वे यह भी समझ गये कि मैं अपनी सामर्थ्य से कुम्भकर्ण को मिटाने में समर्थ नहीं हूँ।

ज्ञान के दो रूप हैं – सुग्रीव भी ज्ञान हैं और भगवान राम भी ज्ञान हैं। दोनों का सम्बन्ध सूर्य से जोड़ा गया है। श्रीराम का प्राकट्य सूर्यवंश में हुआ है और सुग्रीव सूर्य के पुत्र हैं। सुग्रीव का बादल से आवृत्त हो जानेवाले सूर्य जैसा ज्ञान है और श्रीराम का परिपूर्ण ज्ञान, कभी आवृत्त न होने वाले सूर्य के समान है, अखण्ड ज्ञान – जहाँ ज्ञान खण्डित नहीं है –

ग्यान अखण्ड एक सीताबर ।। ७/७७/४

इसका अभिप्राय यह है कि साधन-ज्ञान के द्वारा अभिमान से मुक्ति सम्भव नहीं है। अखण्ड ज्ञान ही अभिमान को पूरी तौर से विनष्ट करता है। सुग्रीव सोचते हैं कि हम कुम्भकर्ण को मिटा तो नहीं सकते, पर हम इस पर खरोच लगाने की चेष्टा क्यों न करें! इसके लिये सुग्रीव ने पहला काम यह किया कि तुरन्त मरे-जैसे हो गये। व्यक्ति जब तक चैतन्य है, तब तक उसके व्यवहार में अभिमान परिलक्षित होता है; परन्तु जब वह शव हो जाता है, तो उसमें कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। शव को देखें, तो व्यक्ति की पूरी आकृति दिखाई देती है, पर उस पर चाहे कोई फूल की वर्षा करे, या निन्दा अथवा स्तुति करे – उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सुग्रीव ने इसी शववृत्ति का आश्रय लिया। इसका तत्काल अच्छा फल हुआ। कुम्भकर्ण को लगा कि अरे, यह तो मेरे बगल में दबकर मर गया; और अब इसे ढोना व्यर्थ है, इसको यहीं छोड़ो। उसने अपना हाथ उठाया, तो सुग्रीव तुरन्त अपनी चैतन्य मुद्रा में आ गये और भागने का निर्णय किया। पर भागने के पहले उन्होंने कुम्भकर्ण पर एक खरोंच लगा दी –

काटेसि दसन नासिका काना ।। ६/६६/६

खरोंच लगाने के लिये उन्होंने बड़े विचित्र शस्त्र का प्रयोग किया। बन्दरों का सबसे प्रिय शस्त्र नाखून हैं या दाँत। वे दाँतों का प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह कि शास्त्र के वचनानुसार वे उस पर द्विजत्व के संस्कार का खरोंच लगाते हैं।

वे जानते हैं कि अभिमान के दो प्रिय केन्द्र हैं – नाक और कान। अभिमान की सबसे प्रचलित भाषा है – कुछ भी हो जाये, नाक न कटने पाये। यह अभिमान का एक मुख्य प्रतीकात्मक शब्द है। अभिमान का जो दूसरा प्रिय अंग कान है; और यह तो उसे बहुत ही प्रिय है। अभिमानी व्यक्ति निरन्तर कान को खोले रहता है कि कोई हमारी प्रशंसा करे और हम उसे पीयें। उसके ये ही दो स्थान हैं।

सुग्रीव ने उन दोनों पर प्रहार किया और फिर भागे। सोचा कि बस, इतना ही सम्भव है। केवल नासिका और कान पर प्रहार करके भागे और जाकर भगवान के पीछे छिप गये। कुम्भकर्ण लौटा। भगवान राम ने उसके साथ जो युद्ध किया, उसकी अलग कला है। जब कुम्भकर्ण गर्जना करने लगा, तो उन्होंने अपने तरकस से बाण निकाले और उसके मुँह को बाणों से भर दिया। यही अभिमान से लड़ने की कला है।

'गर्जना' का क्या अर्थ है? अभिमानी चाहता है कि दूसरे प्रशंसा करें और हम कान से सुने, पर उसकी वृत्ति यह भी रहती है कि यदि प्रशंसा कोई दूसरा न करे, तो हमीं गरजेंगे, अपनी प्रशंसा हम स्वयं करेंगे। भगवान के बाण का अर्थ है – अभिमान को विनष्ट करने के लिए इस आत्म-प्रशंसा की वृत्ति को नष्ट किया जाय। शब्द का प्रयोग करेंगे, तो उसमें अभिमान परलक्षित होगा। भगवान ने सोचा – कुम्भकर्ण को मौन कर देना चाहिए और इसके लिए उन्होंने अपने बाणों का प्रयोग किया। कुम्भकर्ण का मुँह बन्द हो गया। प्रशंसा सुनने की वृत्ति पर सुग्रीव ने प्रहार किया और आत्म-प्रशंसा करने की वृत्ति पर भगवान ने। शब्दों में प्रशंसा न करे, तो गरज तो सकता है; परन्तु मुँह बन्द है, तो गरजेगा कहाँ से?

तब वह अपनी दोनों भुजाओं को फैलाकर भगवान राम की ओर दौड़ता है। भगवान राम ने दो बाण लिए और कुम्भकर्ण की दोनों भुजाएँ काट दीं। अभिमान की ये दो भुजाएँ कौन-सी हैं? – मैं और मेरापन। अभिमान के ये ही दो लक्षण हैं – अहंता और ममता। प्रभु ने अभिमान को पहले चुप किया और उसकी 'मैं' और 'मेरेपन' की दोनों भुजाएँ काट दीं। परन्तु इसके बाद भी अभिमान पीछा नहीं छोड़ता। मौन कर देने के बाद भी, 'मैं' और 'मेरेपन' को काट देने के बाद भी वह भगवान की ओर दौड़ा। तब भगवान ने एक ऐसे बाण का प्रयोग किया, जिससे कुम्भकर्ण का सिर कटकर गिर जाता है। सिर कटने का अभिप्राय क्या है? व्यक्ति के मन में अहंकार का सबसे बड़ा केन्द्र उसकी अपनी बुद्धिमत्ता है। प्रभु ने इस सिर को काट दिया। इसके बाद कुम्भकर्ण के भीतर से एक तेज निकला और जाकर भगवान में समा गया। यही अभिमान के विनाश की समग्र प्रक्रिया है। अभिमान में भी एक दिव्य तत्त्व है। वेदान्त में जब 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'सोऽहम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो वह भी तो 'अहम्' ही है। हनुमान जब लंका में जाते हैं, तो वहाँ गर्जना करते हुए 'दासोऽहम्' कहते हैं –

दासोऽहं कौशलेन्द्रस्य ... ।।

तो भक्ति की भाषा में 'दासोऽहम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तो चाहे 'दासोऽहम्' कहें या वेदान्त की भाषा में 'सोऽहम्' कहें –

सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा ।। ७/११८/१

यदि कोई यह सोचे कि व्यक्ति क्या बिना अभिमान के रह सकता है? तो अभिमान या तो भगवान में समा जाय, या भगवान से अभिन्नता की अनुभूति हो जाय, अथवा भगवान के दासत्व का अभिमान आ जाय –

अस अभिमान जाइ जनि भोरे ।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे ।। ३/११/२१

इस प्रकार मानस में जो विविध प्रकार के राक्षसों से युद्ध की कला का वर्णन हुआ है, बाणों का वर्णन हुआ है, इसका सांकेतिक तात्पर्य यह है कि किस बुराई को जीतने के लिए किस तरह के बाण की आवश्यकता है, कहाँ यम की जरूरत है, कहाँ नियम की; कहाँ व्रत की जरूरत है, कहाँ मौन की; और कहाँ विचार की, तो कहाँ योग की। ये जो अलग-अलग विविध प्रकार के साधन हैं, इनके अलग-अलग संकेत अलग-अलग बाणों के रूप में किए गये हैं।

रावण का प्रसंग तो और भी विस्तृत तथा गम्भीर है। रावण मोह का रूप है और मोह का विनाश सबसे कठिन है। उसके लिए सिर पर भी प्रहार, भुजा पर भी प्रहार, हृदय पर भी प्रहार, नाभि पर भी प्रहार – चौतरफा आक्रमण करके उसको विनष्ट किया जाता है। उसमें भी बाण अलग-अलग प्रकार के हैं। हृदय पर जो बाण चलाया गया, वह हृदय में घुस गया। भुजा पर जो बाण चलाया गया, उसने भुजा को काट दिया। जो बाण सिर पर चलाया गया, उससे सिर कटकर गिर गया, पर रावण की नाभि में भगवान ने जिस बाण का प्रयोग किया, वह काटने वाला नहीं था।

कथा सुनते समय लगता है – हाँ, बात तो ठीक है, पर उठकर जाते हैं, तो रावण का सिर जहाँ का तहाँ! अब जो कुछ करना है, सब रावण के विचारों से ही प्रेरित होकर करना है। भगवान विभीषण से पूछते हैं – यह मर क्यों नहीं रहा है? विभीषण बोले – महाराज, जब तक इसके नाभिकुण्ड के अमृत को नहीं सुखाइएगा, तब तक यह नहीं मरेगा –

नाभिकुंड पियूष बस याकें ।
नाथ जिअत रावनु बल ताकें ।। ६/१०२/५

नाभि का अमृतकुण्ड व्यक्ति के पूर्वजन्मों का संस्कार है। इसी जन्म का अभ्यास छोड़ना कठिन है, तो असंख्य जन्मों के बने हुए अभ्यास का छूटना तो और भी कठिन है। उसे सुखाने हेतु भगवान पावकास्त्र का प्रयोग करते हैं। गीता (५/३७) में भगवान कहते हैं – ज्ञान की अग्नि से सारे कर्म-फल भस्म हो जाते हैं – **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।।**

भगवान मानो संसार के मिथ्यात्व-बोध के बाण द्वारा पूर्व तथा वर्तमान जन्मों के संस्कारों को पूरी तरह विनष्ट कर देते है और तब मोह के रूप में रावण का विनाश होता है।

❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❖ (क्रमशः) ❖ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑

ट्रस्टीशिप का भाव

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये जाते रहे तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुई है। – सं.)

महात्मा गाँधी अपने समीप के धनिकों को बारम्बार 'ट्रस्टीशिप' का उपदेश देते थे। उनका तात्पर्य यह था कि सम्पत्ति का स्वामी अपने को मत मानो, बल्कि यह समझो कि ईश्वर ही सम्पत्ति का स्वामी है और तुम उसकी सुरक्षा और देखरेख करने वाले ट्रस्टी हो। यह एक अमूल्य उपदेश है। जब मैं अपने को सम्पत्ति का स्वामी मानता हूँ, तो उसके व्यय में किसी का हस्तक्षेप मैं स्वीकार नहीं करता, मैं मनमाने खर्च किये जाता हूँ। किसी का अंकुश मुझे भाता नहीं। पर यदि मेरे अन्त:करण में यह भावना बन जाय कि सम्पत्ति के किसी भी अंश का दुरुपयोग न होने पाये। सम्पत्ति पर स्वयं के स्वामित्व की भावना उसे साधारणतया दूसरे के काम में नहीं लगने देती, पर ट्रस्टीशिप का भाव कहता है कि यह सम्पत्ति दूसरों की सेवा के लिए समर्पित है। ट्रस्टी सम्पत्ति को भगवान् की थाती के रूप में दु:खियों, पीड़ितों और असहायों की सेवा में उसे लगाकर धन्यता का बोध करता है। विशेषकर, मठ-मन्दिर और सार्वजनिक न्यासों की सम्पत्ति को जो अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए खर्च करता है, उसके समान निन्दित व्यक्ति और कोई नहीं माना गया।

इस सम्बन्ध में वाल्मीकि रामायण में एक उद्‌बोधक कथा आती है। एक कुत्ते ने प्रभु राम के दरबार में आकर फरियाद की कि स्वार्थसिद्ध नामक एक ब्राह्मण ने उसके सिर पर अकारण ही प्रहार किया है। उस ब्राह्मण को रामचन्द्र जी के समक्ष प्रस्तुत किया गया। वह बोला – "हे राघव, मैं क्षुधित था। सामने कुत्ते को बैठा देखकर मैंने उससे हटने को कहा। उसके न हटने पर मुझे क्रोध आ गया और मैंने उस पर प्रहार किया। महाराज, मुझसे अवश्य ही अपराध हुआ है, आप मुझे जो चाहें दण्ड दें।"

राजा राम ने अपने सभासदों से ब्राह्मण को दण्ड देने बाबत परामर्श किया। सबने एक स्वर से निर्णय दिया – "ब्राह्मण को भले ही उच्च कहा गया हो, पर आप तो परमात्मा के महान् अंश हैं, अत: आप अवश्य ही उचित दण्ड दे सकते हैं।" इस बीच कुत्ता बोला – "प्रभो, मेरी इच्छा है कि आप इसे कलिंजर मठ का मठाधीश बना दें।" यह सुनकर सबको आश्चर्य हुआ, क्योंकि तब तो ब्राह्मण को भिक्षावृत्ति से छुटकारा मिल जाता और मठाधीश होने के बाद उसे सारी सुख-सुविधाएँ प्राप्त हो जाती। रामचन्द्र जी ने कुत्ते से ब्राह्मण को मठाधीश बनाने का प्रयोजन पूछा। इस पर कुत्ता बोला – "राजन्, मैं भी पिछले जन्म में कलिंजर का मठाधीश था। मुझे वहाँ बढ़िया-बढ़िया पकवान खाने को मिलते थे। यद्यपि मैं पूजा-पाठ करता था, धर्माचरण करता था, तथापि मुझे कुत्ते की योनि में जन्म लेना पड़ा। इसका कारण यह है कि जो व्यक्ति देव, बालक, स्त्री और भिक्षुक आदि के लिए अर्पित धन का उपभोग करता है, वह नरकगामी होता है। यह ब्राह्मण अत्यन्त क्रोधी और हिंसक स्वभाव का तो है ही साथ ही मूर्ख भी है, अत: इसको यही दण्ड देना उचित है।"

इस कथा के माध्यम से यही बात ध्वनित की गयी है कि जो सार्वजनिक सम्पत्ति को अपने ही स्वार्थ के लिए लगाता है, उसकी दशा अन्त में श्वान की सी होती है। इसके साथ ही यह बात भी सत्य है कि अपनी सम्पत्ति का भी केवल अपने स्वार्थ के लिए उपयोग मनुष्य को नैतिक दृष्टि से नीचे गिरा देता है। गीता की भाषा में मनुष्य को यह सम्पत्ति प्रकृति के यज्ञ-चक्र से प्राप्त हुई है, अत: उसे उसका उपयोग यज्ञ-चक्र को सुचारु रूप से चालित होने के निमित्त करना चाहिए। जैसे यदि कहीं पर वायु का अभाव पैदा हो, तो प्रकृति तुरन्त वहाँ वायु भेज देती है, उसी प्रकार जहाँ सम्पत्ति का अभाव है, उसकी पूर्ति में जिसके पास सम्पत्ति है, उसका उपयोग होना चाहिए। यही सम्पत्ति के द्वारा यज्ञ-चक्र को पूर्ण बनाना है। इसी को ट्रस्टीशिप कहते हैं। यदि ऐसा न कर व्यक्ति सम्पत्ति का भोग स्वयं करे, तो उसे गीता में 'स्तेन' यानी चोर की उपाधि से विभूषित किया गया है।

अपने पास जब आवश्यकता से कुछ अधिक हो जाय, तो उसका समाज के अभावग्रस्त लोगों में वितरण करना 'अपरिग्रह' कहलाता है। यह अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप एक दूसरे के पूरक हैं। सम्पन्न लोगों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यदि उन्होंने ट्रस्टीशिप की भावना को जीवन में अंगीकार न किया और तदनुरूप आचरण को न बदला, तो अभावग्रस्त लोगों के हृदय की टीस, उनका विक्षोभ और आक्रोश उनके जीवन को अशान्त और तनावों से युक्त बना देगा। ❖❖❖

आत्माराम के संस्मरण (२१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

धारचूला का आश्रम

१९२४ ई. में स्वामी अनुभवानन्द के विशेष आग्रह पर संन्यासी अल्मोड़ा से धारचूला गया। उस समय वे वहाँ एक शिव-मन्दिर तथा धर्मशाला आदि बनवा रहे थे। उस आश्रम का नाम था – 'तपोवन'। वे स्वयं चन्दा एकत्र करते हुए भ्रमण किया करते थे, इसलिये निर्माण-कार्य आदि पर ध्यान रखने के लिये वे संन्यासी की सहायता चाहते थे। उनके साथ रूमादेवी नाम की एक भूटिया महिला थी, जिन्हें श्रीमाँ सारदा देवी की कृपा प्राप्त हो चुकी थी। इन्हें युवावस्था में ही स्वप्न में श्रीमाँ से दीक्षा मिली थी। इसके काफी काल बाद जब ब्रह्मचारी तेजचन्द्र (बाद में स्वामी शर्वानन्दजी)* मायावती से कैलाश-मान-सरोवर की यात्रा पर गये, तो मार्ग में रूमादेवी के पिता के घर में ही आतिथ्य ग्रहण किया था। उस समय उनके पूजा के समय श्रीमाँ का चित्र देखकर इन्होंने पहचान लिया कि स्वप्न में किस देवी ने उन्हें दीक्षा दी थी। इसके पहले उनके विषय में इन्हें कुछ भी ज्ञात न था। शर्वानन्दजी से सारी बातें जान लेने के बाद वे श्रीमाँ का दर्शन करने कलकत्ते गयीं। मायावती आश्रम की ओर से उनके वहाँ जाने की सारी व्यवस्था कर दी गयी थी। माँ के पास कुछ दिन रहने के बाद ठण्डे प्रदेश की निवासी होने के कारण उनके शरीर में खूब फोड़े-फुंसियाँ निकल आयीं। खूब कष्ट होने पर वे माँ की अनुमति लेकर अपने घर – गर्वियांग लौट आयीं और भक्तिपूर्ण जीवन बिताने लगीं। इन्होंने विवाह नहीं किया था। अनुभवानन्द ने उनकी सहायता से तपोवन में आश्रम आदि की स्थापना की थी।

बाद में अनुभवानन्द के साथ तालमेल न बैठने के कारण रूमादेवी तपोवन छोड़कर नारायण स्वामी के पास चली गयीं। उन्होंने भी इस पहाड़ पर शिक्षा-प्रसार का काफी कार्य किया था। नारायण स्वामी के बहुत-से लोग रूमादेवी को गाइड बनाकर कैलाश आदि तीर्थों की यात्रा पर जाया करते थे। वे प्रति वर्ष कैलाश-यात्रा की व्यवस्था किया करते थे। इसके बाद उनका नारायण स्वामी के साथ भी रहना नहीं हो सका। परवर्ती काल में ये आनन्दमयी माँ के पास गयीं और उनसे संन्यास लेने के बाद उनके देहरादून के आश्रम में रहीं। वह एक लम्बी कथा है। अनेक वर्षों बाद रूमादेवी ने संन्यासी को सब कुछ बताया था। संन्यासी उस समय हरिद्वार में – भूपतवाले जंगल की कुटिया में थे और वे देहरादून में आनन्दमयी माँ के पास रहती थीं। बहुत-सी बातें होने के बाद उन्होंने छलछलायी हुई नेत्रों के साथ कहा – "अच्छा, आजकल माँ को नहीं देख पाती। पहले प्रतिदिन एक बार उनका दर्शन मिलता था। माँ आनन्दमयी से संन्यास (गेरुआ) लेने के बाद से ही अब मुझे माँ का दर्शन नहीं मिलता। माँ क्या नाराज हो गयी हैं?"

संन्यासी – "यह तो नहीं जानता, परन्तु हमारी ये माँ कभी क्रोध नहीं करती थीं। सम्भवत: माँ आनन्दमयी के प्रति आपकी श्रद्धा का आधिक्य देखकर उन्होंने सोचा है कि अब दर्शन आदि देने की आवश्यकता नहीं है। आप उन्हें हृदय से प्रार्थना कीजिये। उसी से हो जायेगा।"

रूमादेवी – "मैंने तो माँ-सारदा और माँ-आनन्दमयी – दोनों को एक समझ कर ही उनसे संन्यास की याचना की थी। तो क्या यह मुझसे भूल हुई है?" अस्तु।

* * *

संन्यासी ने धारचूला जाकर वहाँ दस महीने से भी अधिक का समय बिताया था। बाद में वहाँ उसकी जाँघ में भयंकर एग्जिमा हुआ। सम्भवत: यह लगभग एक महीने तक प्रतिदिन कोचू (अरवी) का शाक खाने के कारण हुआ था।

---

* एक अन्य मत – ये संन्यासी श्रीमाँ के शिष्य स्वामी श्यामानन्द थे। (द्र. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा, बँगला ग्रन्थ, खण्ड १, पृ. ३९९)

संन्यासी ने धारचूला में एक प्रयोग किया था। वहाँ पर कोई शाक-सब्जी नहीं मिलती थी। अल्मोड़ा से सूखे हुए आलू के टुकड़े, फूलगोभी, तरोई, मूली आदि आते थे। केवल वर्षा के दिनों में ही जंगली कोचू (अरवी) का शाक मिलता था। संन्यासी ने पाँच रुपयों में कलकत्ते से शाक-सब्जियों के बीज मँगवाकर एक प्रयोग किया। इसके फलस्वरूप वहाँ लौकी, कुम्हड़ा, तरोई, फूलगोभी, बैगन आदि के पौधे हुए। परन्तु अच्छे नहीं हुए। कुम्हड़े के एक पौधे में केवल दो ही फल हुए, उनमें से केवल एक ही खूब बड़ा – ६-७ किलो वजन का हुआ और दूसरा छोटा रहते ही सड़ गया। तरोई २-३ हुए। बैगन छोटे-छोटे कुछ हुए। फूलगोभी नहीं हुई। लौकी के दो पौधे हुए, जिनमें से एक में ही १४० खूब मीठी लौकियाँ हुईं, दूसरे में केवल ८-१०। आसपास के सब पहाड़ी लोग देखने आये थे और उन्हें लौकियाँ दी भी गयी थीं। और इस पहाड़ की ढाल पर आश्रम के परिसर में ही एक पंक्ति तिल, फिर एक पंक्ति मिर्च, इस प्रकार २०-२२ पंक्तियाँ लगायी गयी थीं। संन्यासी ने देखा – तिल के पौधे ७-८ हाथ ऊँचे होकर उनमें फूल हुए और मिर्च से पौधे मिर्च से भर गये तथा पककर लाल हो गये थे। गाँव के लोगों ने उसे देखकर सीखा कि यह सब आसानी से किया जा सकता है। आसाकोट राजवंश के कई कुमार लोग देखने आये थे और विस्मित हो गये। इतना सुन्दर तिल और मिर्च वहाँ हो सकता है, यह उन लोगों को पता ही नहीं था। रूमादेवी की बहन ने, जो गर्बियांग में रहती थीं, संन्यासी की सलाह पर फूलगोभी, पत्तागोभी, गाजर, शलगम, बीट, मटर आदि लगाया। खूब हुआ। इसके फलस्वरूप गर्बियांग आदि अंचल में आजकल सर्वत्र ही खूब शाक-सब्जी प्राप्त होते हैं। सरकारी लोगों ने उन्हें कभी नहीं बताया। प्रयोग करना तो दूर की बात, उन लोगों की धारणा थी कि यह सब वहाँ नहीं होगा। पर अब उन्हें खुश देखकर संन्यासी भी खुश है।

लाल सिंह

संन्यासी जब धारचूला में था, तभी उसका लालसिंह से परिचय हुआ। ये उधर के भूटिया लोगों के सरपंच भी थे। बड़े अच्छे आदमी थे। उनकी सर्वत्र ख्याति थी और इतना मान था कि भूटिया लोगों के मामले में वे जो भी कहते, उसे सरकार भी स्वीकार कर लेती। सच बोलने वाले मनुष्य थे। उन लोगों के गाँव में रहते समय संन्यासी को जो अनुभव हुआ, वह इस प्रकार है –

झगड़े के दौरान एक भूटिया ने एक अन्य जन को मारा, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। उसके सम्बन्धियों ने आकर उसे समझाया – कलेक्टर से कहना कि वही व्यक्ति मारने आया था और आत्मरक्षा करते समय मैंने उस व्यक्ति को धक्का दे दिया, उसी से गिरकर वह मर गया। लालसिंह जानते थे कि बात ऐसी नहीं है, बल्कि जान-बूझकर ही उसे मारा गया है। इसलिये उन लोगों से कह दिया – "सत्य तो यह नहीं है, मैं जानता हूँ; मुझसे पूछने पर मैं जो जानता हूँ, वही कहूँगा।" उन लोगों ने काफी अनुनय-विनय किया, परन्तु ये झूठ बोलने को तैयार नहीं हुए। केवल इतना ही कहा कि वे कलेक्टर के साथ भेंट नहीं करेंगे। बस।

जिस दिन कलेक्टर आये, उसके पिछले दिन ही वे कहीं जंगल में चले गये और कलेक्टर के जाने के बाद वापस लौटे। इन लोगों को आंशिक स्वाधीनता प्राप्त है, इसीलिये इन पर कानून की पकड़ ढीली है। सरकार में उनका इतना मान है कि वे जो कह दें, वही स्वीकार कर लिया जायेगा, कोई जिरह नहीं होगी।

धारचूला से दस मील दूर खेला है और वहाँ से दस मील दूर उनका गाँव है। संन्यासी को साथ लेकर जा रहे थे। रास्ते में एक व्यक्ति दौड़ता हुआ आया और बोला कि उसके गाँव (जो उनके गाँव से पाँच मील पहले पड़ता था) जाना ही होगा। साथ में संन्यासी को भी जाना पड़ा। पंचायत बैठी थी, कोई गम्भीर मामला था। संन्यासी को बाहर एक जगह बैठाने की व्यवस्था करके पंचायत में गये। वह खाकर बैठा हुआ था। वे तथा एक अन्य व्यक्ति ने आकर संन्यासी से कहा – "पंचायत सभा में आपकी हाजिरी अत्यन्त आवश्यक है। इस धर्मसंकट में आपका निर्णय सर्वमान्य होगा। चलिये।" संन्यासी ने कहा – "लेकिन पहले यह तो बताइये कि बात क्या है?" लालसिंह की भतीजी को इस गाँव में अपहरण करके लाया गया था। तीन दिन हो गये, बालिका ने केवल चाय पीया है और कुछ भी नहीं खाया। नियमानुसार – वह रहने को तैयार नहीं है। इससे पता चलता है कि जो उसे लाया है, वह उसे पसन्द नहीं है। मद्य पीती, तो इसका अर्थ था कि वह थोड़ी राजी है और भात खाती तो इसका अर्थ था कि पूर्ण राजी है, परन्तु उसने कुछ भी नहीं खाया। तीन दिन से अधिक उसे घर में रोककर नहीं रखा जा सकता। तीन दिन हो गये हैं, इसीलिये जो लोग अपहरण करके लाये हैं, उन्होंने बालिका के माता-पिता को सूचित किया है कि उसे कहाँ रखा गया है। अब आप जो निर्णय देंगे, उसे सभी लोग मान लेंगे। चलिये।" बड़ी मुश्किल है! एक तो यह सामाजिक मामला है, इसमें संन्यासी क्या करेगा? और दूसरे, उन लोगों की रीति-रिवाज के बारे में उसे जानकारी नहीं है। परन्तु वे भी नाछोड़-बन्दा थे।

कोई समाधान न होने की हालत में मारपीट हो जाने की आशंका थी। लाल सिंह बोले – "चलिये, वे लोग कह रहे हैं कि सब सुनने के बाद आप जो भी बोलेंगे, उसे सभी मान लेंगे, क्योंकि आपकी बात तो पक्षपात से रहित होगी।"

सभा में जाकर देखा – मद्य और चाय बार-बार आ रही

थी। और सभी मद्य पीकर बैठे-बैठे ही झूम रहे थे। हालत नाजुक थी। अब क्या किया जाय ! उन लोगों की सब रीति – सामाजिक प्रथा जान लेने के बाद संन्यासी ने बालिका को बुलवाया। बालिका का आना उनके नियम के विरुद्ध है। उसे कमरे में बन्द करके रखा जाता है, परन्तु संन्यासी ने कहा कि ऐसी हालत में तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा। लड़की क्या कहती है, यह जानना आवश्यक है, इसी से फैसला हो जायेगा, अर्थात् निर्णय लेने में आसानी होगी।

बालिका के तीन दिनों से कुछ खाया नहीं था, केवल चाय मात्र ही पीया था। अत: संन्यासी ने लालसिंह से कहा कि उसे इस व्यक्ति के साथ विवाह करने में क्या आपत्ति है? क्या करने से या क्या देने से वह विवाह करने के लिये राजी हो सकती है। जब उसने चाय पीया है, तो इसका अर्थ है कि वह आंशिक रूप से राजी है, तो फिर बाधा क्या है? बालिका यदि कुछ नहीं चाहती, तो यही समझूँगा कि वह विवाह के लिये राजी नहीं है, और तब इसका प्रश्न ही नहीं उठेगा। बालिका सिर झुकाये चुपचाप बैठी रही। कुछ कहा नहीं। आखिरकार संन्यासी ने कहा – ''इससे पूछो कि क्या यह सोचने के लिये समय चाहती है – तीन महीने, छह महीने या एक वर्ष का?'' वह बोली – ''एक वर्ष का।''

बस, समाधान हो गया। बालिका को एक वर्ष का समय देने में किसी को आपत्ति नहीं थी। अस्तु, संन्यासी को भी एक नये प्रकार का अनुभव हुआ। भूटिया लोगों में इस प्रकार के विवाह की प्रथा है – अपहरण करके लाना, तीन दिन रखना और लड़की यदि कुछ नहीं खाती, तो उसे घर वापस लौटा आना। परन्तु कुछ खाने पर, विशेषकर मद्य – पूछते हैं कि क्या समस्या है? और यदि भात खाती है, तो मान लिया जाता है कि उसे स्वीकार है। अपहरण करके लाते हैं, परन्तु अत्याचार नहीं करते, सुरक्षित रखते हैं – यह प्राचीन क्षत्रिय कुलोचित आचार है, निन्दनीय नहीं है।

गाँव काली नदी के पार – करीब एक मील दूर एक किनारे स्थित था। सामने श्वेत हिम-मण्डित हिमालय की चोटियाँ अपूर्व शोभा की सृष्टि कर रही थीं। अगले दिन भोजन आदि करने के बाद संन्यासी सब देखने के लिये बाहर निकला। नीचे दूर सेव का बगीचा था – वृक्षों की सभी डालियाँ फूलों से भरी हुई थीं। पत्ता एक भी नहीं था। सुन्दर दृश्यावली थी।

संन्यासी उसी ओर चल पड़ा। उसी पुष्प-शोभित उद्यान में जाकर एक पत्थर के ऊपर बैठ गया और दृश्य को देखने तथा भगवत्-चिन्तन में मग्न था। कब संध्या हो गयी, उसे पता ही नहीं चला। एक भूटिया ने आकर पूछा – ''कहाँ आये हैं? किसके घर?'' तब ख्याल आया कि शाम के समय भूटिया लोग अपने कुत्तों को खोल देते हैं। तब किसी की मजाल नहीं कि गाँव में घुस जाय – फाड़कर खा जायेंगे। अब क्या किया जाय ! उसने कहा कि वह पहुँचा देगा और साथ ले चला। थोड़ा ऊपर जाने पर एक छोटा-सा घर मिला – खेत के बीच एक आंगन और कुछ कमरे। वह दिखाकर बोला कि यह उसी का घर है और – ''चलिये, थोड़ा चाय पीकर जायेंगे।'' संन्यासी राजी हुआ। हे भगवान, उसके घर में घुसते ही देखा – दीवार से श्रीरामकृष्ण देव का एक छोटा-सा चित्र लटक रहा है। सामने आग पर चाय उबल रही थी और उसकी स्त्री उसमें मक्खन तथा नमक डालने के बाद उसे घोटकर चाय बना रही है। (ये लोग ऐसी ही चाय पीते हैं।)

संन्यासी बार-बार चित्र की ओर देखते हुए सोच रहा था – ''कहाँ तो मैं सोच रहा था कि मैं ही इस घर में पहले घुसा हूँ, पर तुम तो पहले से ही आकर बैठे हुए हो। उसकी स्त्री बोली – ''इन्हें बता दो कि यह किसका चित्र है।'' भूटिया ने कहा – ''वह चित्र एक महात्मा का है।'' संन्यासी – ''तुम्हें कैसे पता चला?'' भूटिया – ''क्यों? जब से वह चित्र लाया हूँ – उनका दर्शन तथा प्रणाम किये बिना यदि किसी काम से जाता हूँ, तो गड़बड़ होगा ही, काम सिद्ध नहीं होता।'' बड़ी सहज युक्ति थी। संन्यासी – ''महात्मा का नाम क्या है?''

भूटिया – ''नहीं जानता। इसे शहर से लाया हूँ। वह चित्र देखकर बड़ा अच्छा लगा। दुकानदार ने कहा, 'महात्मा का चित्र है।' और दाम – दस आने। मैंने खरीद लिया।'' संन्यासी ने जब कहा कि नाम वह जानता है, तो पूछा – ''कैसे जानते हैं? अब भी जीवित हैं या नहीं? सारी बातें कहिये।'' तब संन्यासी ने उन्हें संक्षेप में श्रीरामकृष्ण की जीवनी बतायी। दम्पति के दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी और वे बार-बार कहने लगे – ''आप हम लोगों के लिये ही आये हैं। रात के करीब एक बजे पूरा हुआ।

अब गाँव में लौटकर जाना ही होगा, नहीं तो वे लोग बड़े चिन्तित होंगे। मशाल जलाकर एक मील रास्ता चढ़ाई करके ले गया। पहुँचकर देखा कमरे में लोग भरे हुए हैं। सभी अत्यन्त चिन्तित थे। ''अरे, वे तो आ गये'' – यह कहकर विलम्ब होने का कारण पूछने पर उस भूटिया ने ही सब कह दिया – श्रीरामकृष्ण की बातें। अनेक लोगों की आँखों में पानी आ गया।

लाल सिंह ने संन्यासी से कहा – ''अद्भुत् घटना हुई ! ये लोग तो जरूरत पड़ने पर भी इधर नहीं आते, पर आपको खोजने के लिये पहाड़-पहाड़ में घूम रहे थे और आप इस प्रकार वहाँ बैठे उन लोगों को भगवान की बातें सुना रहे थे।

❖ (क्रमश:) ❖

अन्धा कुआँ

स्वामी सत्यरूपानन्द

उस युग में न तो आज की भाँति रेल और मोटर गाड़ियाँ थीं, नही पक्की और सुन्दर सड़कें, और न मार्ग-दर्शिका-पट्टियाँ और मील के पत्थर। पैदल पग-डण्डियों पर चलना ही उस युग का साधन था।

कोई एक ब्राह्मण नितान्त अकेले किसी वन मार्ग से होकर जा रहा था। वन गहन था और पथ अनजाना और अस्पष्ट। पथिक उस दुर्गम वन में भटक गया। वह स्थान अत्यन्त दुरूह था। बटोही को इसका भान तब हुआ, जब उसने देखा कि वन गहन से गहनतर होता जा रहा है। उसने अपनी गति और तीव्र कर दी, किन्तु वह और भी अधिक गहन वन में जा फँसा।

चारों ओर से रह-रहकर भयानक हिंसक पशुओं की दिल दहला देनेवाली आवाजें आ रही थीं। कभी वन सिंह की गर्जना से काँप उठता, तो कभी दिशाओं को विदीर्ण करनेवाली हाथियों की चिंघाड़ मानो वन को झकझोर देती।

उस भयंकर स्थल में पहुँचकर निरीह ब्राह्मण का हृदय काँप उठा। भयातुर बटोही दिग्भ्रान्त हो इधर-उधर भागने लगा। कदाचित् कहीं कोई शरणस्थल मिल जाय, हो-न-हो उस वन से बाहर भागाने का कोई मार्ग सूझ जाय !

किन्तु विधि की विडम्बना ! न तो उसे कोई शरणस्थल ही प्राप्त हो सका और न उस वन से बाहर निकलने का कोई मार्ग ही उसे मिल सका।

अकस्मात् उसकी दृष्टि वन की सीमा-सी प्रतीत होने वाले एक भाग पर पड़ी। किन्तु यह क्या? वह विशाल वन एक बड़े जाल से ढका हुआ है तथा एक वीभत्स स्त्री ने उसे अपनी दृढ़ भुजाओं से जकड़ रखा है। यह विचित्र दृश्य देखकर ब्राह्मण भय से विक्षिप्त सा हो उठा और शीघ्र ही वहाँ से भागने का प्रयत्न करने लगा।

वहाँ पास ही एक अंधा कुआँ था, जो जंगली लताओं से ढँके होने के कारण दीख नहीं रहा था। भागने के प्रयत्न में ब्राह्मण थोड़ी दूर आगे जाकर उस अंधे कुयें में गिर पड़ा। नियति के नियन्त्रण की परिधि में दिक्-काल सहित समस्त ब्रह्माण्ड परिचालित है। पथिक कुयें के तल में न गिरकर उन लताओं में फँसकर उल्टा लटक गया, जिन्होंने कुयें को आच्छादित कर रखा था।

कुछ क्षणों के लिये तो पथिक अचेत-सा हो गया। जब उसकी चेतना लौटी तो उसने देखा कि एक मोटी लता के सहारे लटका हुआ है। इतने में ही उसकी दृष्टि कुयें के नीचे पड़ी। वह चीख उठा ! उसने देखा, वहाँ एक विकराल विषधर फन फैलायें बैठा है। मानों इस प्रतिक्षा में है कि जैसे ही वह निरीह ब्राह्मण नीचे गिरे, वह उसे निगल जाय।

उसने भय से अपनी आँखें मींच लीं। कुछ क्षणों पश्चात् जब उसने पुन: आँखें खोलीं, तो ऊपर का दृश्य देखकर उसका हृदय भय से विदीर्ण हो उठा। उसने देखा कि एक विशालकाय हाथी निरन्तर उस कुयें की ओर बढ़ता चला आ रहा है। उस विचित्र हाथी के छह मुँह हैं और वह बारह पैरों से चल रहा है।

अभी हाथी के भय से वह काँप ही रहा था कि उसकी दृष्टि उस लता पर पड़ी, जिसके सहारे वह लटका हुआ था। दृष्टि पड़ते ही वह भय से चीत्कार कर उठा। देखता क्या है कि उस लता की जड़ को काले और सफेद रंग के चूहे निरन्तर काटते चले जा रहे हैं। न मालूम कब लता कट जाय और वह उस विकराल कालसर्प के मुँह में समा जाय। यह दृश्य देखकर वह विक्षिप्त-सा हो उठा।

कुयें की लताओं में अनेक मधुमक्खियों के छत्ते लगे थे, जिनमें तीव्र डंक मारनेवाली असंख्य मधुमक्खियाँ बैठी थीं। उन छत्तों से निरन्तर बूँद-बूँद करके मधु झर रहा था। पथभ्रान्त पथिक का कण्ठ क्लान्ति और भय से सूख गया था। आश्चर्य है ! उस विकट विपत्ति में फँसा वह पथिक निरन्तर उन मधु-बूँदों का पान कर रहा था।

विदुर के मुँह से उस निरीह ब्राह्मण की दुर्दशा सुनकर महाराज धृतराष्ट्र का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने विदुर से कहा, "विदुर ! कहाँ है वह देश? किस दिशा में है वह दुर्गम वन? शीघ्र बताओ। हम उस ब्राह्मण की मुक्ति का उपाय करेंगे। उसके दुख से हमारा मन व्याकुल हो रहा है।"

विदुर ने सहास्य उत्तर दिया, "महाराज ! मनीषियों द्वारा उद्धृत यह एक दृष्टान्त है। इसे भलीभाँति समझ लेने पर मनुष्य को सन्मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है और अन्त में वह सभी दुखों से मुक्त हो परम आनन्द में अवस्थित हो जाता है।"

धृतराष्ट्र ने उत्सुकता पूर्वक कहा, "अच्छा विदुर ! शीघ्र ही तुम हमें इस कथा का मर्म समझाओ।"

विदुर ने निवेदन किया, "महाराज ! जिसे दुर्गम स्थल कहा गया है, वह यह संसार ही है। भयंकर वन, संसार के ही जटिल स्वरूप की उपमा है। वन की सीमा पर जो

भयंकर नारी खड़ी है, उसे मनीषियों ने रूप और कान्ति की नाशक वृद्धावस्था कहा है। अन्धे कुँयें की उपमा शरीर के लिये है, जिसमें गिरकर अज्ञान के कारण आत्मा फँसी हुई है। कुँये के भीतर बैठा विशाल विषधर काल (समय) का द्योतक है। कुँये पर आच्छादित लता, जिसके सहारे ब्राह्मण लटक रहा है, मनुष्य के जीवन की आशा है।

राजन्! कुयें के ऊपर छह मुखवाला हाथी जो निरन्तर आगे बढ़ रहा है, संवत्सर की सूचना देता है। वर्ष की छह ऋतुयें ही उसके छह मुख हैं। बारह महीने, उसके बारह पैर हैं।

काले और सफेद रंग के चूहे जो जीवन लता को सतत काट रहे हैं, दिन और रात्रि के सूचक हैं। मधुमक्खियाँ हमारी अनन्त कामनाओं की प्रतीक हैं। मधु की टपकती बूँदे कामनाओं की क्षणिक पूर्ति से होने वाले आनन्द की ओर इंगित करती हैं। यह ऐसा कमनीय रस है जिसमें सभी व्यक्ति डूब जाते हैं।

किन्तु जो विवेकशील व्यक्ति हैं, वे ज्ञान और वैराग्य के शस्त्र से इस भयावह संसार के बन्धनों को काटकर सदैव के लिये दुखों के पार हो जाते हैं।

उपर्युक्त दृष्टान्त के द्वारा महात्मा विदुर ने शोकाकुल धृतराष्ट्र के विवेक को जगाने का प्रयत्न किया था।

संसार के संयोग-वियोग, सुख-दुख, लाभ-हानि, मान-अपमान, सफलता-असफलता, यश-अपयश, आशा-निराशा, हमें निरन्तर व्यग्र, व्यथित, व्याकुल और प्रताड़ित करते रहते हैं। क्या हमारी स्थिति उस ब्राह्मण से कम निरीह है? क्षण-क्षण आयु शेष होती जा रही है, किन्तु हम निरन्तर भागे जा रहे हैं गहन से गहनतर, जटिल से जटिलतर संसार-अरण्य की ओर।

क्षण भर रुककर देखें, विचार करें। संसार-अरण्य में हमें कहीं शरण नहीं प्राप्त हो सकती। यहाँ कोई स्थान सुरक्षित नहीं है। तब क्या इस घोर अरण्य से बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं? क्या हमें सदैव इस अंध कूप में पड़े रहना होगा?

नहीं, उपाय अवश्य है। कुछ क्षण शान्त होकर विवेक की आवाज सुनें। उसके बताये हुये पथ का दृढ़ता पूर्वक अनुसरण करें, तो अवश्य ही हम इस अंधे कुयें से बाहर निकलकर सभी दुखों से त्राण पा सकते हैं।

❑❑❑
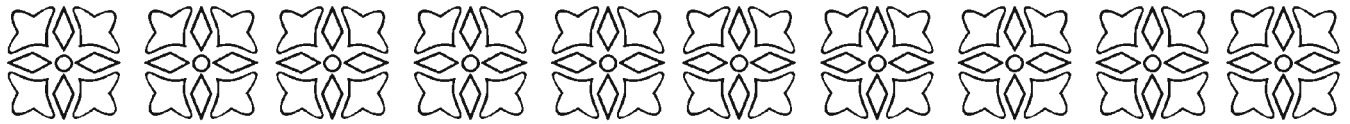
पृष्ठ १०६ का शेषांश

उनको तोड़-मरोड़कर कुछ अर्थ निकाला और उन सबका अपनी व्याख्या के अनुरूप मनमाना अर्थ लगा लिया। फिर द्वैतवादी भाष्यकार ने भी व्याख्या करनी चाही, उनमें अनेक अद्वैतमूलक अंश हैं, जिनसे द्वैतमूलक अर्थ ग्रहण करने के लिये उसने भी खींचतान की। परन्तु गीता में इस तरह के किसी भाव को बिगाड़ने की चेष्टा आपको नहीं मिलेगी।[१५]

गीता के मूल नायक हैं श्रीकृष्ण। ... भारत में अन्य अवतारों की अपेक्षा श्रीकृष्ण के उपासक संख्या में अधिक हैं। उनके उपासकों का विश्वास है कि श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं और शंका करने पर वे कहते हैं – बुद्ध तथा अन्य अवतारों की ओर देखो। वे केवल संन्यासी थे, गृहस्थों के प्रति उनके हृदय में कोई सहानुभूति नहीं थी, और होती भी कैसे? पर श्रीकृष्ण के जीवन को देखो, पुत्र, पिता, राजा – सभी दृष्टियों से वे महान् हैं और वे आजीवन इस महान् शिक्षा को आचरण में लाते रहे – "जो मनुष्य प्रबल कर्मशीलता के बीच रहता हुआ भी निष्कर्म भाव की मधुर शान्ति का उपभोग करता है और महा-निस्तब्धता में भी जो अत्यन्त कर्मशील रह सकता है, उसी ने जीवन के रहस्य को ठीक-ठीक जाना है।" श्रीकृष्ण ने इस स्थिति को प्राप्त करने का जो मार्ग बताया है – वह है अनासक्ति योग। सारे कर्म करो, परन्तु उसमें आसक्त मत होओ। तुम सर्वदा निर्विकार, शुद्ध-बुद्ध और मुक्त आत्मा हो – निर्लिप्त और साक्षी हो। हमारे दुःखों का मूल कारण कर्म नहीं, आसक्ति है। उदाहरणार्थ, धन की ही बात लो! सम्पत्तिशाली होना बड़ी अच्छी बात है। कृष्ण कहेंगे – धनोपार्जन करो, उसके लिये जी-तोड़ परिश्रम करो, पर उसमें आसक्ति मत रखो। सन्तान, पत्नी, पति, कुटुम्बी, यश आदि के विषय में भी यही भाव रखो। उनका त्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल उनमें आसक्त मत बनो। आसक्ति के भाजन तो केवल प्रभु ही हो सकते हैं – और कुछ नहीं। सबके लिये परिश्रम करो, उन्हें प्यार करो, उनका हित सम्पन्न करो, अवसर आने पर उनके लिये अपने जीवन का बलिदान भी कर दो, परन्तु उनमें आसक्त मत होओ। श्रीकृष्ण का स्वयं का जीवन उनके इस उपदेश का एक प्रज्वलन्त उदाहरण है।[१६] ❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची – ११. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. १७७; **१२**. वही, खण्ड ५, पृ. १४९-५०; **१३**. वही, खण्ड ७, पृ. १४७; **१४**. वही, खण्ड ७, पृ. १४७; **१५**. वही, खण्ड ५, पृ. १५१-५५; **१६**. वही, खण्ड ७, पृ. १६३-६४

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१५१. अमीर-गरीब मौसेरे भाई

एक बार राजा विक्रमादित्य के दरबार में एक वृद्ध आ पहुँचा। उसने कहा – ''महाराज, आपने मुझे पहचाना? मैं आपका मैसेरा भाई हूँ। कभी मैं भी ठाट-बाट से रहता था। मेरे यहाँ बत्तीस नौकर थे, लेकिन दुर्दिन आ जाने पर वे सब एक-एक कर चले गये। मेरे दो प्यारे मित्र थे, वे सदा नाराज रहते हैं; दो भाई हैं, जो थोड़ा-बहुत काम कर देते हैं; पत्नी भी असन्तुष्ट है, हमेशा उल्टे-सीधे जवाब देती रहती है। इस हालत में यदि आप कुछ सहायता कर सकें, तो जीवन की इस आखिरी घड़ी में मैं सुख की नींद सो सकूँगा।''

राजा ने वृद्ध का यथोचित सम्मान करते हुये रुपयों से भरी एक थैली दे दी। यह देखकर एक मंत्री राजा से बोला – ''महाराज, यह दरिद्र आपका भाई कैसे हो सकता है? रुपयों के लालच में इसने झूठ बोलकर आपको अपना भाई बताया। परन्तु आपने इस पर सहज ही कैसे विश्वास कर लिया?''

विक्रमादित्य ने उत्तर दिया – ''इस वृद्ध ने मुझे अपना भाई बताकर मुझे मेरे कर्तव्यों का बोध कराया है। पहले इसके बत्तीस दाँत थे, जिन्हें इसने नौकर बताया है; आज वे नहीं रहे। दो पैर इसके मित्र थे, जो अब डगमगाने लगे हैं। हाथ जिन्हें इसने भाई बताया, पहले की भाँति काम करने में सक्षम नहीं रहे। बुद्धि इसकी पत्नी है, जो अब सठिया गई है। रही बात मौसेरा भाई होने की, तो मेरी माँ अमीर और इसकी माँ गरीब है। दोनों अलग-अलग होने के कारण मैंने उस दूरी को रुपये देकर पाटने की कोशिश की है।''

१५२. मृत्यु अवश्यम्भावी जग में

महाराष्ट्र के सन्त कैकाड़ी महाराज की बाल्यावस्था से ही पूजा-पाठ में रुचि थी। युवा होने पर भी उन्हें सदैव भगवत्पूजा में लीन देखकर उनके माता-पिता ने उनका कमला नामक एक सुशील कन्या के साथ विवाह कर दिया। परन्तु एक वर्ष के भीतर ही उन्हें गृहस्थ जीवन से विरक्ति हो गयी।

दो वर्ष बाद जब वे अपने गृह-ग्राम श्रीगोंदे में आये, तो वहाँ एक मन्दिर में उनके कीर्तन का आयोजन किया गया। यह बात जब उनकी पत्नी कमला बाई को ज्ञात हुई, उस समय उनके बच्चों को बुखार था और वे अपने देवर के साथ अस्पताल जा रही थीं। परन्तु उन्होंने पहले पति का दर्शन तथा उनका कीर्तन सुनने के बाद ही अस्पताल जाने का निश्चय किया। पति के कीर्तन में वे इतनी लीन हो गईं कि उन्हें अपने बच्चे का जरा भी ध्यान न रहा। अचानक उन्होंने जब बच्चे के शरीर को हाथ लगाया, तो वह एकदम ठण्डा लगा। उन्होंने तुरन्त समीप बैठे देवर को यह बात बताई, तो उसने बच्चे को देखकर उसे मृत बताया। यह सुनते ही कमला बाई जोर-जोर से विलाप करने लगीं। इससे कीर्तन में व्यवधान आ गया। सन्त ने अपने भाई को पत्नी तथा बच्चे के साथ बाहर चले जाने को कहा।

इस शोकपूर्ण घटना के बाद भी कैकाड़ी महाराज ने कीर्तन जारी रखा। लोगों द्वारा इसे निष्ठुरता कहने पर उन्होंने कहा – ''मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर है। यहाँ जन्म लेनेवाले हर व्यक्ति को मालूम है कि उसे एक-न-एक दिन इस लोक को छोड़कर जाना है, इसलिये उसे आत्मीय जनों के मोह में नहीं फँसना चाहिये।'' इस पर एक श्रोता खड़ा होकर चिल्लाया – ''महाराज, आप तो बड़े हृदयहीन दिखाई देते हैं। आपके इकलौते बेटे के प्राण-पखेरू उड़ गये हैं और आपका हृदय जरा भी नहीं पसीजा। इसके विपरीत आप हमें उपदेश भी दे रहे हैं।'' इस पर महाराज बोले – ''ऐसी स्थिति में तुम क्या करोगे? अब तक तो करोड़ों लोग मृत्यु के ग्रास बन चुके हैं, तो फिर मैं केवल एक के लिये ही शोक क्यों करूँ? सबकी मृत्यु जब अवश्यभावी है, तब भगवान का भजन छोड़कर शोक करने से क्या लाभ?''

१५३. धर्म-कर्म निज-निज अनुसारा

बादशाह अकबर की हिन्दू रानी जोधाबाई की मृत्यु होने पर उसने फरमान जारी किया की रानी के शोक में शाही मातम मनाया जाय। इसके तहत हर सरदार, हर नवाब, हर राजा, हर शासक को हिन्दू रीति से अपने सिर का मुण्डन कराना होगा। रणथम्भौर के राजा सूरजभान के पुत्र राव भोज ने जब यह फरमान पढ़ा, तो उसने इसे अपनी आन और शान के खिलाफ समझा। उन्होंने बादशाह को जवाब में भेजा – ''मैं एक राजपूत हूँ और सच्चा राजपूत अपने स्वर्गीय गोत्रीय जनों के निधन पर ही मुण्डन आदि कृत्य कराता है। किसी दूसरे की मौत पर सिर मुड़ाना वह अपनी तौहीन समझता है। भोज इसके लिये मर मिटने को तैयार है।''

बादशाह ने जब यह पत्र पढ़ा, तो उसने भोज को उत्तर लिख भेजा – ''तुम जैसे वीर और स्वाभिमानी पर अकबर को गर्व है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म में श्रद्धा रखते हुए उसमें विहित कर्मों को सम्पन्न करने का अधिकार है। मैं हरगिज तुम्हारे धर्म-कर्मों में आड़े नहीं आऊँगा।'' ❑❑❑

स्वामीजी का मातृऋण

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

स्वामीजी के काश्मीर के लिये रवाना हो जाने के बाद, लगता है राजा साहब उनके साथ सम्पर्क-सूत्र खो बैठे थे। अत: उनके निर्देश पर उनके निजी सचिव जगमोहन लाल ने नैनीताल से पत्र लिखकर बेलूड़ मठ से स्वामीजी के काश्मीर के पते की जानकारी माँगी। यह पत्र सम्भवत: जुलाई के प्रारम्भ में लिखा गया था। उसके उत्तर में स्वामी शिवानन्दजी ने दार्जिलिंग से लिखा था –

"प्रिय मुंशीजी, आपका २ तारीख का कृपापत्र मठ के भाइयों द्वारा पुन:प्रेषित होकर मुझे प्राप्त हुआ। पिछली मई से मैं जलवायु-परिवर्तन हेतु यहाँ निवास कर रहा हूँ। स्वामीजी इस समय कश्मीर में हैं और सकुशल हैं। आप उन्हें इस पते पर पत्र लिख सकते हैं – '**ऋषिवर मुखर्जी, चीफ जज, श्रीनगर, कश्मीर**'।

स्वामी अखण्डानन्द बंगाल में ही बहरमपुर जिले के महुला गाँव में उनके द्वारा स्थापित अनाथालय के लिये कार्य कर रहे हैं। यह उस अंचल में उनके द्वारा साहसपूर्वक प्रारम्भ किये गये और अद्‌भुत सफलता के साथ सम्पन्न किये गये अकाल-राहत-कार्य का ही परिपूरक है, जिसके विषय में आप शायद अवगत हैं। प्रीति एवं आशीर्वाद सहित

आपका, **शिवानन्द**

"पुनश्च – नैनीताल में आप कब तक ठहरने वाले हैं? क्या आपने नहीं सुना कि 'प्रबुद्ध-भारत' (अंग्रेजी पत्रिका) अब से कैप्टेन सेवियर के व्यवस्थापन में अल्मोड़ा से प्रकाशित होने जा रही है और स्वामीजी के एक नये शिष्य (स्वामी स्वरूपानन्द) इसका सम्पादन करेंगे? स्वामी तुरीयानन्द, सदानन्द तथा निरंजनानन्द – सभी अल्मोड़ा में ही हैं। यदि आप चाहें तो एक बार वहाँ की यात्रा कर सकते हैं। वहाँ जाने में केवल एक दिन लगता है और यात्रा बड़ी आनन्ददायक है।

हमारे प्रिय राजा साहब इस समय कहाँ हैं? क्या वे सुरक्षित रूप से अपनी केदार-बद्री की यात्रा पूरी करके लौट आये हैं? उन्हें तथा उनके बाकी परिवार को मेरा स्नेह तथा आशीष ज्ञापित कीजियेगा।"[१]

इसके बाद महाराजा ने स्वामीजी को श्रीनगर के पते पर पत्र लिखा, जिसके उत्तर में स्वामीजी १० अगस्त (१८९८) को लिखते हैं – "माननीय महाराज, बहुत दिनों से मुझे आपका कोई पत्र नहीं मिला है। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से आपका क्या हालचाल है? मैं श्री अमरनाथ जी गया था। यह बड़ी आनन्ददायक यात्रा थी और दर्शन भव्य थे।

मैं मैदान में वापस जाने के पहले यहाँ एक महीना और रहूँगा। कृपया जगमोहन को कहें कि वह **किशनगढ़ के दीवान साहब** को लिखे कि वे मुझे निम्बार्क भाष्य की प्रतियाँ भेज दें, जिनके बारे में उन्होंने मुझसे वादा किया था। सम्पूर्ण प्रेम के साथ –

आपका, ***विवेकानन्द***"[२]

श्रीनगर से स्वामीजी ने महाराजा को दूसरा पत्र लिखा –

"द्वारा ऋषिवर मुखर्जी, चीफ जज, काश्मीर
१७ सितम्बर, १८९८

महाराज,

मैं दो सप्ताह से बहुत अस्वस्थ रहा। अब अच्छा हो रहा हूँ। मेरे पास पैसे नहीं हैं। यद्यपि मेरे अमेरिकन मित्र सामर्थ्य के अनुसार मेरी यथायोग्य सहायता कर रहे हैं – मुझे हमेशा उन लोगों के आगे हाथ पसारने में लज्जा आती है – खासकर बीमारी के दवा, पथ्य आदि के लिये। संसार में मुझे एक ही आदमी के सामने हाथ पसारने में कभी लज्जा का अनुभव नहीं होता और वह आप हैं। आप दें या नहीं – कोई बात नहीं। यदि सम्भव हो तो कृपया कुछ रुपये भेजिए। आप कैसे हैं? मैं अक्तूबर के मध्य तक नीचे उतर रहा हूँ।

जगमोहन से कुमार साहब के पूर्ण आरोग्य-लाभ का संवाद सुनकर प्रसन्न हुआ। अब वे मजे में हैं; आशा है आप भी सानन्द होंगे।

सदैव आपका,
विवेकानन्द"[३]

१. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter, 1982, p. 182-3

२. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. 9, P. 107

३. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम संस्करण, खण्ड ७, पृ. ३५३

महाराजा ने तत्काल रुपये भेजने की व्यवस्था की और स्वामीजी के उपरोक्त पत्र के उत्तर में पहले तार और फिर पत्र भी लिखा, जिसके उत्तर में स्वामीजी ने काश्मीर-यात्रा से लौटते समय लाहौर से १६ अक्तूबर, १८९८ को लिखा –

"महाराज, तार के बादवाले पत्र में मैंने अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में लिखा था – इसीलिए मैंने आपके तार का जवाब तार से नहीं दिया।

इस बार काश्मीर में मैं बहुत बीमार रहा। अब अच्छा हूँ और आज ही सीधे कलकत्ता जा रहा हूँ। पिछले दस वर्षों से मैंने बंगाल की श्री दुर्गापूजा (जो बहुत धूमधाम से होती है और जिसका बंगाल में विशेष महत्त्व है) नहीं देखी है। मुझे आशा है कि इस बार पूजा में मैं उपस्थित रहूँगा।

पश्चिमी मित्र एक या दो सप्ताह में जयपुर देखने जायेंगे। यदि जगमोहन वहाँ हो, तो कृपया उसको इस बात की ताकीद कर दें कि वह उन लोगों की देखभाल करे और उन्हें जयपुर शहर तथा प्राचीन कला-संग्रह आदि दिखला लाये।

मैंने अपने गुरुभाई सारदानन्द से कह दिया है। रवाना होने के पहले ही वे मुंशीजी को सूचना दे देंगे।

आप और कुमार साहब कैसे हैं? सदा की भाँति आपके लिये मंगल-कामना करता हुआ –

आपका, ***विवेकानन्द***"[४]

पुनश्च – अब मेरा पता होगा –

मठ, बेलूड़, जिला हावड़ा, बंगाल

इस बीच राजा साहब भी बीमार पड़ गये, जिसकी सूचना पाकर स्वामीजी ने बेलूड़ मठ (हावड़ा) से २६ अक्तूबर, १८९८ को महाराजा के नाम पत्र में लिखा –

"महाराज, मैं आपके स्वास्थ्य के लिए अत्यधिक चिन्तित हूँ। लौटती बार आपसे मिलने की बड़ी अभिलाषा थी, किन्तु मेरा स्वास्थ्य ऐसा गिरा कि मुझे जल्दी ही यहाँ भाग आना पड़ा। मुझे लगता है, मेरे हृदय में कोई गड़बड़ी है।

खैर, आपके स्वास्थ्य के समाचार के लिये बड़ा चिन्तित हूँ। आप चाहें तो मैं खेतड़ी आ सकता हूँ। दिन-रात आपके मंगल के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ। कुछ अप्रिय घटे भी, तो धैर्य मत छोड़िएगा। माँ सर्वदा आपकी रक्षा कर रही हैं।

सभी समाचार लिखकर सूचित करें। ... आप और कुमार साहब कैसे हैं?

प्रेम तथा अनन्त आशीर्वाद के साथ –

आपका, ***विवेकानन्द***"[५]

४. वही, खण्ड ७, पृ. ३५४

५. वही, खण्ड ७, पृ. ३५५

मातृऋण का शोध

इस ब्रह्माण्ड में विष तथा अमृत एक साथ ही प्राप्त होते हैं। पुराकाल में जब अमृत पाने के लिये समुद्र-मन्थन किया गया था, तो इसमें से अमृत के पूर्व कालकूट विष निकला। उसके प्रचण्ड ताप से सारा संसार जलने लगा। ब्रह्माण्ड के सभी जीवों में त्राहि-त्राहि मच गयी। भगवान विष्णु ने कहा – इसे शिवजी के पास ले जाओ। भगवान ने भेजा है – यह सुनते ही शिवजी ने उस विष को पी लिया और अपने कण्ठ में धारण कर लिया। तभी से वे 'नीलकण्ठ' कहलाये। इस युग में भी जब सम्पूर्ण विश्व में भौतिकतावाद का घोर अँधेरा फैला हुआ था, तभी युगधर्म रूपी अमृत का वितरण करने हेतु श्रीरामकृष्ण का अवतरण हुआ। उन्होंने अपने जीवन तथा साधनाओं के द्वारा वैदिक धर्म का मन्थन करके सभी धर्मों के सार रूप अध्यात्म-अमृत को निकाला। जगत् के परम कल्याण हेतु इस अमृत को वितरण करने का उत्तरदायित्व उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द को सौंपा। उन्होंने इसे सहर्ष शिरोधार्य किया। श्रीरामकृष्ण की इस धरोहर को आगामी हजारों वर्ष के लिये विश्व के समस्त नर-नारियों में वितरण हेतु स्वामीजी ने अपने व्यक्तिगत जीवन में जो कष्ट उठाये, वही मानो उनके लिये 'विषपान' था।

जगत् के हित साधन हेतु जिन परिस्थितियों में उन्होंने १८८६ ई. में गृहत्याग किया था, उसकी करुण-गाथा उन्हीं के शब्दों में – "मुझ पर तो भीषण दुर्भाग्य छा गया था! एक ओर थे मेरी माता और भ्रातागण। मेरे पिताजी का देहावसान हो गया और हम लोग (मठवासी) असहाय, निर्धन रह गये, इतने निर्धन कि हमेशा फाकाकशी चलती रहती थी। कुटुम्ब की एकमात्र आशा मैं था, जो थोड़ा कमाकर कुछ सहायता पहुँचा सकता। मैं दो संसारों की ओर ले जाने वाले दोराहे पर खड़ा था। एक ओर था मेरी माता और भाइयों के भूखों मरने का दृश्य, और दूसरी ओर थे इन महान् पुरुष के विचार, जिनसे – मेरा खयाल था – भारत का ही नहीं, सारे विश्व का कल्याण हो सकता है और इसलिए जिनका प्रचार करना, जिन्हें कार्यान्वित करना अनिवार्य था। इस तरह मेरे मन में महीनों यह संघर्ष चलता रहा। कभी तो मैं छह-छह, सात-सात दिन और रात निरन्तर प्रार्थना करता रहता। कैसी वेदना थी वह! मानो मैं जीवित ही नरक में था। कुटुम्ब के नैसर्गिक बन्धन और मोह मुझे अपनी ओर खींच रहे थे – मेरा बाल्य हृदय भला कैसे अपने इतने सगों का दर्द देखते रहता? फिर दूसरी ओर कोई सहानुभूति करनेवाला भी नहीं था!... (पर) मेरा विश्वास था कि इन विचारों से भारत अधिक ज्ञानोद्भासित होगा तथा भारत के सिवा और भी अनेक देशों और जातियों का उससे कल्याण हो सकेगा। तभी यह बोध हुआ कि इन विचारों का नाश होने

देने के बदले तो कहीं अच्छा है कि कुछ मुट्ठी भर लोग स्वयं को मिटाते रहें! यदि एक माँ न रही, दो भाई मर गये तो क्या बिगड़ जायेगा? यही तो बलिदान है... । **बिना बलिदान के कोई भी महत् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।** कलेजे को बाहर निकालना होगा और निकालकर उसे लहूलुहान पूजा की वेदी पर चढ़ा देना होगा। तभी कुछ महान् सम्पन्न हो पाता है। अन्य कोई मार्ग है क्या? अभी तक तो किसी को मिला नहीं। ... कैसी वेदना – कैसी पीड़ा! हर सफल कार्य के पीछे कैसी भयानक यातना की कहानी है!"[६]

लगभग दस वर्ष पूर्व ही अपनी माता तथा परिवार की अवस्था की सूचना देते हुए १८८९ की ४ जुलाई को उन्होंने वाराणसी के प्रमदादास मित्र को लिखा था – "कलकत्ते में मेरी माँ और दो भाई रहते हैं। मैं सबसे बड़ा हूँ। दूसरा भाई एफ.ए. की तैयारी कर रहा है और तीसरा अभी छोटा है। वे लोग पहले काफी सम्पन्न थे, पर मेरे पिता की मृत्यु के बाद उनका जीवन कष्टमय हो गया है। कभी-कभी तो उन्हें भूखे रहना पड़ता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्हें असहाय पाकर कुछ सम्बन्धियों ने उन्हें पैतृक घर से भी निकाल दिया है। कुछ भाग तो हाइकोर्ट में मुकदमा लड़कर पुनः प्राप्त कर लिया गया है। परन्तु वे मुकदमेबाजी के कारण निर्धन हो गये हैं।"[७]

१८९१ ई. में खेतड़ी के राजा अजीतसिंह से परिचय हो जाने के बाद उन्होंने स्वामीजी के परिवार के भरण-पोषण तथा भाइयों की शिक्षा आदि का उत्तरदायित्व सँभाल लिया था। इस हेतु वे प्रति माह १०० रुपये उनकी माता को भेजा करते थे तथा निरन्तर उनके भाइयों का समाचार लेते रहते थे। तब से स्वामीजी ने काफी कुछ निश्चिन्तता का अनुभव किया और विश्वहित के कार्य में लग गये। तथापि उपरोक्त संकट मिटा नहीं था और दोनों छोटे भाई उनकी आशानुरूप योग्य बनकर माँ की सेवा का भार नहीं ले सके थे। पिछले लगभग १२ वर्षों से उनके अभाव में उनकी माता ने विशेष रूप से कष्ट उठाया था। सबसे बड़े पुत्र होकर भी अपनी माता के लिये वे स्वयं कुछ कर नहीं सके थे, यह खेद उन्हें सालने लगा था। परन्तु पूरे विश्व में वैदिक धर्म की कीर्ति-पताका फहराने और 'रामकृष्ण मठ तथा मिशन' की स्थापना करके सम्पूर्ण विश्व तथा भारतवर्ष के भावी जागरण तथा धर्म-स्थापना का पथ प्रशस्त कर लेने के बाद अब स्वामीजी के मन में इच्छा हुई कि सार्वजनिक जीवन से अवकाश लेकर बाकी समय अपनी गर्भधारिणी माता के जीवन के किंचित् सुख-शान्ति पहुँचाने का प्रयास करे। उन्होंने स्वयं ही अपनी माता के लिये कुछ करने का संकल्प किया।

उन्होंने बेलूड़ मठ से **२२ नवम्बर, १८९८** को राजा साहब के नाम एक पत्र लिखकर इसके लिये अपील किया –

"माननीय महाराज, जगमोहन लाल द्वारा निम्बार्क भाष्य और आपका कृपापत्र मिला, अनेक धन्यवाद।

मैं आज श्रीमान् के पास अपने एक महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए (इस पत्र द्वारा) पहुँच रहा हूँ, यह जानते हुए कि आपके सामने मन की बात कहने में मुझे जरा भी लज्जा नहीं है और इस जीवन में मैं आपको ही अपना एकमात्र मित्र मानता हूँ। यदि मेरी निम्नोक्त बातें आपको जँचे, तो ठीक है; यदि नहीं, तो एक मित्र के समान मेरी इस निर्बुद्धिता को क्षमा करेंगे।

जैसा कि आप जानते हैं, लौटने के बाद से ही मैं अस्वस्थ हूँ। कलकत्ते में आपने मुझे अपनी मित्रता तथा मेरी व्यक्तिगत सहायता का वचन दिया था और कहा था कि मैं इस असाध्य रोग के विषय में चिन्ता न करूँ। स्नायविक उत्तेजना के फलस्वरूप ही मुझे यह रोग हुआ है और जब तक कि मेरे मन से चिन्ता तथा उत्तेजना चली न जाय, तब तक कोई भी जलवायु-परिवर्तन इसमें सुधार नहीं ला सकता।

दो वर्ष तक विभिन्न स्थानों में जलवायु-परिवर्तन करने के बाद भी, मेरी अवस्था दिन-दिन बिगड़ती जा रही है और मैं करीब-करीब मौत के दरवाजे पर पहुँच चुका हूँ। इसीलिए मैं महाराज के वचन, उदारता तथा मित्रता के नाते एक आवेदन करता हूँ। एक पाप सर्वदा ही मेरे हृदय को पीड़ित करता रहता है और वह है कि जगत् की सेवा के निमित्त मैंने अपनी माँ के प्रति सोचनीय उदासीनता दिखायी है। फिर, मेरे द्वितीय भाई (महेन्द्र) के बाहर (विदेश) चले जाने के कारण वह शोक से अत्यन्त विदीर्ण हो चुकी है। अब मेरी अन्तिम इच्छा यह है कि कम-से-कम कुछ वर्षों तक मैं अपनी माँ की सेवा करूँ। मैं अपनी माँ के साथ रहना चाहता हूँ और वंश का उच्छेद रोकने हेतु अपने छोटे भाई का विवाह कर देना चाहता हूँ। ऐसा होने से निश्चित रूप से मेरे तथा मेरी माँ का अन्तिम काल शान्ति में बीतेगा। माँ इस समय एक छोटी-सी कोठरी में रहती हैं। मैं उनके लिये एक छोटा-सा सुन्दर मकान बनाना चाहता हूँ और सबसे छोटे भाई के लिये कुछ व्यवस्था कर देना चाहता हूँ, क्योंकि उसके द्वारा किसी अच्छे रोजगार की सम्भावना बहुत कम है। श्रीरामचन्द्र के वंशज एक राजा के लिये यह व्यवस्था कर देना क्या एक बहुत बड़ी बात है, विशेषकर उसके लिये जिससे कि वे प्रेम करते हैं और अपना मित्र मानते हैं? मेरी समझ में नहीं आता कि मैं और किससे अनुरोध करूँ! यूरोप से जो धन मुझे मिला था, वह 'कार्य' के लिये था और उसका पाई-पाई तक उस कार्य के लिये दे दिया गया है। फिर अपनी व्यक्तिगत सहायता के लिये मैं दूसरों के समक्ष हाथ भी नहीं फैला

---

६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १०, पृ. १०-११ (द्र. विवेक-ज्योति के सितम्बर २००६ अंक में इसी लेखमाला की २१वीं कड़ी)

७. वही, खण्ड १, प्रथम संस्करण, पृ. ३३७-३८

सकता। अपनी पारिवारिक परिस्थिति को मैंने महाराज के समक्ष खोलकर रख दिया है; और दूसरा कोई भी इस विषय में नहीं जानेगा। मैं क्लान्त, भग्नहृदय और मरणासन्न हूँ। क्या मुझे कहना होगा कि मेरे प्रति आपका किया गया अन्तिम महान् कृपा का कार्य आपके महान् तथा उदारतापूर्ण स्वभाव के अनुरूप होगा; और आपने मेरे प्रति जो अनेक प्रकार की सहृदयता दिखाई है, उनमें यह सर्वोपरि होगा। और इसके द्वारा महाराज मेरे अन्तिम दिनों को शान्त तथा सहज बना देंगे। मेरी प्रार्थना है कि मैंने जिन प्रभु की आजीवन सेवा करने की चेष्टा की है, वे सर्वदा आपके तथा आपके परिवार पर अपने सर्वश्रेष्ठ आशीर्वादों की वर्षा करें।

प्रभु में सदा आपका, ***विवेकानन्द***

पुनश्च – यह पूर्णत: व्यक्तिगत है। क्या मुझे तार द्वारा सूचित करेंगे कि आप इसे कर सकेंगे या नहीं?

सर्वदा आपका, ***विवेकानन्द***''[८]

जैसा कि स्वाभाविक था महाराजा ने तार भेजकर स्वामीजी की आवश्यकता के विषय में विस्तार से जानने की इच्छा व्यक्त की। उत्तर में स्वामीजी ने बेलूड़ मठ से **१ दिसम्बर (१८९८)** को पुन: लिखा –

''माननीय महाराज, आपके तार ने मुझे अवर्णनीय प्रसन्नता दी है और यह आपके महान् व्यक्तित्व के अनुरूप है। मैं जो चाहता हूँ, इसका विवरण नीचे देता हूँ।

कलकत्ते में एक छोटा-सा घर बनाने में भी कम-से-कम दस हजार रुपये लगेंगे। इस रकम के द्वारा मुश्किल से शहर से दूर किसी कोने में ४ या ५ व्यक्तियों के लिए एक छोटा मकान खरीदना या बनवाना सम्भव हो सकेगा।

मेरी माँ को दैनन्दिन खर्च के लिए आप कृपापूर्वक प्रति माह जो १०० रुपये दे रहे हैं, वे उसके लिए काफी हैं। यदि सौ रुपये और भी प्रति मास आजीवन मेरे खर्च के लिए जोड़ दें, जो दुर्भाग्यवश इस बीमारी के कारण बढ़ गये हैं, तो मैं पूर्णतया सुखी हो जाऊँगा। मैं आशा करता हूँ कि यह ज्यादा दिनों तक आपकी तकलीफ का कारण नहीं होगा, क्योंकि मेरी ज्यादा-से-ज्यादा कुछ वर्ष जीने की उम्मीद है। एक बात और, क्या मैं आपसे यह भिक्षा माँगूँ – यदि सम्भव हो, तो मेरी माँ के १०० रुपये स्थायी कर दिये जायँ, ताकि मेरी मृत्यु के बाद भी यह उन्हें नियमित रूप से प्राप्त होता रहे। या फिर यदि किसी कारणवश मैं महाराज के प्रेम तथा उदारता से वंचित हो जाऊँ, तो एक निर्धन साधु के प्रति आपके प्रेम की स्मृति में मेरी निर्धन वृद्धा माँ को वह राशि मिलती रहे।

बस इतना ही। आपने जितने महान् कार्य किये हैं, उनके साथ यह छोटा-सा काम भी कर दीजिये; यह जानकर कि कर्म की शक्ति सबमें स्वत:सिद्ध है, भले ही इसे सिद्ध किया जा सके या नहीं। इस सत्कर्म की शक्ति का फल सर्वदा आपको तथा आपके प्रियजन को मिलता रहेगा। जहाँ तक मेरी बात है, इस विषय में मैं क्या कहूँ – इस जगत् में आज मैं जो कुछ भी हूँ, वह अधिकांशत: आपकी सहायता से ही हुआ है। एक भयंकर चिन्ता से मुक्त होकर मैंने जो संसार का सामना किया और कुछ कार्य कर सका – आपके कारण ही यह सम्भव हुआ है। सम्भव है कि प्रभु ने एक बार फिर और भी महानतर कार्य में यंत्र बनाने हेतु आपको चुना हो और वह है – मेरे मन से यह बोझ उतारना।

पर आप इसे करें या न करें 'एक बार जिसको प्यार कर लिया जाता है, वह सदा के लिये प्रिय हो जाता है।' अब तक का मेरे ऊपर आपका जो ऋण है, उसके लिए मेरा सारा प्रेम, आशीर्वाद एवं प्रार्थनाएँ दिन-रात आपके तथा आपके प्रियजनों के साथ हैं। यह ब्रह्माण्ड जिन जगदम्बा का खेल है और जिनके हाथों के हम लोग यंत्र-मात्र हैं, मेरी उनसे प्रार्थना है कि वे सभी बुराइयों से आपकी सर्वदा रक्षा करें।

प्रभु में सदा आपका, ***विवेकानन्द***''[९]

महाराजा ने स्वामीजी के पत्र के उत्तर में क्या लिखा यह तो मालूम नहीं, परन्तु परवर्ती इतिहास से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि राजा के लिये उस समय १०,००० रुपये दे पाना सम्भव नहीं हो सका था। तथापि उन्होंने तत्काल ५०० रुपये भेज दिये और स्वामीजी के व्यक्तिगत खर्च हेतु उन्हें प्रति माह १०० रुपये भेजने की व्यवस्था कर दी। और साथ ही स्वामीजी की माता को स्थायी रूप से १०० रुपये प्राप्त होता रहे, इसकी भी व्यवस्था कर दी। रुपयों का प्राप्ति-संवाद देते हुए स्वामीजी ने बेलूड़ मठ से ही **१५ दिसम्बर (१८९८)** को लिखा –

''महाराज, आपका कृपापत्र श्री दुलीचन्द के नाम ५००/- रु. की दर्शनी-हुण्डी के साथ प्राप्त हुआ। मैं अब तनिक अच्छा हूँ। कह नहीं सकता यह सुधार स्थायी होगा या नहीं।

जैसा कि सुन रहा हूँ, क्या इस शीत-काल में आपके कलकत्ता आने की सूचना सही है? बहुत-से राजा नये वायसराय का अभिनन्दन करने आ रहे हैं। अखबारों से यह पता चला है कि सीकर के महाराजा यहीं हैं।

आपके लिए सदैव प्रार्थना करते हुए –

आपका, ***विवेकानन्द***''[१०]

❖ (क्रमश:) ❖

८. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. 9, P. 108

९. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. 9, P. 110

१०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३५६

मातृ-स्मृति-सुधा

योगीन्द्र मोहिनी विश्वास (योगीन-माँ)

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

दक्षिणेश्वर के नौबत में माँ उन दिनों सीता माता की तरह रहती थीं। चौड़ी लाल किनारी की साड़ी पहनती थीं। माँग में सिन्दूर। सिर में काले घने बाल जो करीब पाँव तक पहुँचते थे। गले में सोने का हार। नाक में बड़ा-सा नथ। कान में कर्णफूल। हाथ में कंगन (जो ठाकुर की मधुर-भाव-साधना के समय मथुर बाबू द्वारा बनवाये गये थे)। उनका दर्शन करके तथा उनके पास रहकर बड़ा आनन्द आता था। मेरे द्वारा बाँधे गये बाल उन्हें बड़े पसन्द थे। मेरे पहुँचते ही बँधवातीं। इससे मुझे भी बड़ा आनन्द होता। एक दिन वे मुझसे बोलीं, "देख योगीन, ये (श्रीरामकृष्ण) इतने लोगों का इतना कुछ (भाव, समाधि आदि) करा देते हैं, मेरा तो कुछ भी नहीं हुआ, एक बार जाकर कह न !" मैं हतभागी कुछ समझ नहीं सकी। जाकर उनसे कहा। उन्होंने मुझे कोई उत्तर नहीं दिया। लौटकर नौबत में देखा कि माँ पूजा करते-करते कभी हँस रही हैं, कभी रो रही हैं, बिल्कुल बाह्य-ज्ञान-शून्य। तब समझी कि वास्तविकता क्या है।

किसी व्यक्ति की बात पर ठाकुर ने माँ के बारे में कहा था – "मेरी पत्नी क्या साधारण स्त्री है ! सरस्वती की अंश है, महा बुद्धिमती है, इसीलिये सजना-सँवरना पसन्द करती है। वह क्या ऐसी-वैसी है – मेरी शक्ति है।" लाटू महाराज से उन्होंने कहा था – "देख, कोई जो कुछ भी लाता है, सब उसे दिखाना, बताना। नहीं तो उनका उद्धार कैसे होगा?"

१८८५ ई. का जेठ का महीना। पानीहाटी का अन्तिम उत्सव। जो (१०-१२) लोग ठाकुर के साथ जानेवाले थे, उनके लिये ठाकुर ने गोलाप-माँ को खाना बनाने के लिये कहा। गोलाप-माँ ने खाना बनाया। भक्त लोग बड़ी देरी से आये। वे लोग खाने को बैठे थे, तभी और भी १०-१२ लोग आ गये, इसलिये सारा खाना समाप्त हो गया। गोलाप-माँ आदि के लिये कुछ बचा नहीं। माँ ने उन लोगों के लिये भात, एक-दो पके बैगन, कच्चे केले और अरवी आदि मिलाकर एक सब्जी जैसा बना दिया। वह व्यंजन इतना स्वादिष्ट हुआ था कि उसका स्वाद मानो अभी तक मेरी जिह्वा पर बना हुआ है।

माँ की स्मृति

गोलाप सुन्दरी देवी (गोलाप-माँ)

एक दिन गोपाल दादा आठ आने का बाजार करके गठरी बाँधकर ले आये। गाँठ बड़ी जोर की लगी थी। मैं ठाकुर के पास जाकर बोली – "भक्त की गाँठ बहुत कड़ी है; मैं खोल नहीं सकी।"

ठाकुर बाजार से आयी चीजों को देखकर नाराज होकर माँ से बोले, "इतना सामान?" माँ ने कहा – "सब लोग खायेंगे न !" ठाकुर "यहाँ (काली मन्दिर की ओर से) एक व्यवस्था बनी है, तो भी इतना खर्च क्यों? फिर दोनों समय आग जलाकर इतना पकाने से तुम बीमार हो जाओगी। तुम्हें इतना पकाने की जरूरत नहीं। मैं यह सब नहीं खाऊँगा।"

उन्होंने उन सब्जियों में से कुछ भी नहीं खाया। सब काली-मन्दिर में दे दिया गया। माँ को दुख हुआ, वे रोने लगीं। ठाकुर ने उन्हें फिर समझाते हुए कहा – "तुम्हें कष्ट होगा, इसलिये तो मैं कहा था कि दोनों समय आग जलाकर इतनी रसोई बनाना। मैंने सोचा है कि अब से सब कुछ पकाओ – कुछ नहीं कहूँगा। आकाश-वृत्ति करके रहूँगा – जो बनेगा वही खा लूँगा। तो तुम्हें जिस दिन जो भी पकाने की इच्छा हो, वही बनाना। मुझसे मत पूछना।"

माँ के गहने पहनने का प्रसंग उठने पर ठाकुर ने कहा – "यह क्या? वह तो सजती नहीं; मैंने ही तो उसे वह सब गढ़वा दिया है। वह सारदा है, सरस्वती है, सजना पसन्द करती है, इसीलिये उसे दिया है।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

निर्भय होने का उपाय

स्वामी प्रेमेशानन्द

(१)

मनुष्य को शान्ति का मार्ग दिखाने हेतु भगवान मनुष्यों के बीच मनुष्य बनकर श्रीरामकृष्ण का रूप धारण करके आये हैं – जो इस पर विश्वास करता है, उसे फिर भय कैसा? विशेष रूप से जिसने श्रीरामकृष्ण की शिष्य-परम्परा से संघ में प्रवेश किया है, उसके लिये तो सारी समस्याओं का समाधान हो चुका है। तथापि पूर्व के कर्मफलों का जो थोड़ा-सा अंश बचा हुआ है, जिसे प्रारब्ध कहते हैं और जिसे इसी शरीर में भोगना पड़ता है, केवल उतना ही कर्मभोग सबको करना होगा – जगत् के नियम-शृंखला की रक्षा के लिये। श्रीरामकृष्ण के चरणाश्रित लोग देहत्याग करके श्रीरामकृष्ण-लोक जायेंगे, वहाँ पर वे श्रीठाकुर, माँ, स्वामीजी तथा उनके सम्प्रदाय के सभी लोगों के साथ चिर काल तक परमानन्द से रहेंगे।

इस विषय में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। तो फिर भय का अब क्या कारण बच जाता है?

(२)

भगवान ने लीला के लिये अपने ही एक अंश से 'जीव' का निर्माण किया है। जीव यदि जान जाय कि मैं ईश्वर का अंश हूँ, तो फिर उसके द्वारा खेल ठीक से नहीं जमेगा! इसीलिये ईश्वर जीव को यह बात जानने नहीं देते। हम लोग पूर्णतः भूल गये हैं कि हम उन्हीं के अंश हैं। हम अपना सच्चा परिचय भूल चुके हैं। और, देह को ही 'मैं' समझकर देह की रक्षा के लिये जन्म-जन्मान्तर से कितना उद्यम किये जा रहे हैं। स्वयं को अन्तहीन उद्यम में लगाकर भी 'कहीं देह नष्ट न हो जाय' – इस भय से जल रहे हैं। जगत् 'भय का एक खेल' है। इन्द्र, चन्द्र, देवी, देवता – सब इसी भय के खेल में उन्मत्त हैं। इसीलिये उपनिषद् कहते हैं –

भयाद् अस्य अग्निः तपति, भयात् तपति सूर्यः ।
भयाद् इन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।

हमारे चारों ओर केवल मृत्यु का ही खेल चल रहा है। क्षुद्रतम जीवाणु, कीट-पतंग, पशु-पक्षी दिन-रात भूख से कातर होकर; जिससे जिसका सम्भव है, उसकी हत्या करके अपनी देह का पोषण करता है। मनुष्य तरह-तरह के कूट-कौशल के सहारे दूसरों का अन्न छीनकर खाता है। जो लोग परम धार्मिक हैं, वे भी वनस्पति-वंश का ध्वंस करके अपनी देह-रक्षा करते हैं।

हत्या, हत्या, हत्या! वह देखो, जीभ लपलपाती विश्व-प्रकृति दूसरों का रुधिर पान करने के लिये सदा-तृष्णातुर, हाथ में तलवार लिये, गले में मुण्डमाला पहने घूम रही हैं। उनका वर तथा अभय रूप हम – सदा मृत्यु-भय से भीत लोगों की दृष्टि में कहा आता है! नित्य प्रभात में सूर्योदय होता है और नित्य अस्ताचल गमन! जल-स्रोत के समान हमारी आयु प्रति क्षण मृत्यु के मुख में झरती जा रही है। हाथ में बँधी वह छोटी-सी घड़ी दिन-रात क्या – "मृत्यु, मृत्यु, मृत्यु" – नहीं कह रही है?

शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य किसी विशेष साधना का आश्रय लेकर अमर हो जाता है। परन्तु सारी पृथ्वी में ढूँढ़ने पर भी वैसा कोई व्यक्ति नहीं मिलता! योगियों तथा ऋषियों की कितनी कथाएँ सुनने में आती हैं, परन्तु सभी तो मरण को प्राप्त हो चुके हैं!

तो भी ठीक है, मनुष्य इतना सब नहीं जानता, मनुष्य भविष्य को नहीं देख पाता, मनुष्य के पास विचार करने के लिये फुरसत नहीं है। काम तथा भूख के धक्के से, मनुष्य अपने जीवन तथा यौवन को पीछे छोड़कर, केवल आत्मरक्षा की हास्यास्पद दुराशा के पीछे दौड़ने को बाध्य है। जीवन क्या है – इस विषय में सोचने का उसके पास अवकाश नहीं है और इसीलिये मनुष्य बचा हुआ है। बड़ी भयंकर बात है!

(३)

जो लोग हानि तथा हार के विषय में सदा सचेत रहते हैं, वे लोग अच्छा खेलते हैं। जब दो दलों के बीच खेल होता है, तब जो खिलाड़ी अपना परिचय याद रखता है, याद रखता है कि मैं अमुक का पुत्र अमुक हूँ, आदि आदि, वह अपना सोलह आने मन खेल में नहीं लगा सकता। जो अपना 'स्वरूप' पूर्णतः भूलकर केवल इतना ही याद रखता है कि 'मैं' ए-टीम या बी-टीम का खिलाड़ी हूँ, वह अपने दल के लिये जी-जान से परिश्रम करता है। **जो अपने दल की 'हार' सह नहीं सकता, वह खिलाड़ी ही नहीं है।** इसीलिये अति उत्साही खिलाड़ी, हार के भय से दूसरे दल के लोगों के साथ कितना अन्यायपूर्ण आचरण करते हैं, मानो दल की हार हो जाने पर उनका जीवन ही व्यर्थ हो जायेगा! या फिर कोई-कोई जीतने के लिये अपने प्राणों तक को बाजी पर लगा देता है।

परन्तु ऐसे लोग भी हैं, जो पक्के खिलाड़ी भी हैं और

अपने स्वरूप के प्रति सचेतन भी रहते हैं। वे भलीभाँति जानते हैं कि खेल में अपना कितना स्वार्थ है और वे हार तथा जय – दोनों के बीच अपने लाभ की ओर ही दृष्टि को निबद्ध रख सकते हैं। खेल को जमाने के लिये दल के नेता उसे जितना ही फुसलाएँगे, वह अपने स्वार्थ के विषय में उतना ही अधिक सचेत होगा।

इस सृष्टि की परिकल्पना के मूल में इन्हीं दो भावों का द्वन्द्व है। अपने स्वार्थ को भूलकर दल के स्वार्थ हेतु आत्म-विसर्जन और अपने स्वार्थ को ध्यान में रखकर दल के कार्य में जी-जान से लग जाना। जो स्वार्थ को भूलकर अच्छा खेलता है, उसे खूब वाहवाही मिलती है, परन्तु उसके देह-मन को कितना भय, कितना आतंक, कितनी वेदना, कितनी उत्तेजना तथा दु:ख झेलना पड़ता है। और जो व्यक्ति अपने शरीर के पोषण, मन के आनन्द, बुद्धि के विकास को ध्यान में रखकर खेलता है, वह जीतने पर 'हो, हो' करके हँसता है और हारने पर भी 'ही, ही' करके हँसता है। 'जनक राजा महान् तेजस्वी थे, उनमें भला कौन-सा दोष था! उन्होंने दोनों ओर का सन्तुलन बनाये रखकर दूध का कटोरा पीया था।'

(४)

खेलने आये हो – जीतोगे या हारोगे? मैं खेलने आया हूँ, इसमें जीत भी है और हार भी। मैं खेलूँगा, परन्तु ऐसा मूर्ख मैं नहीं हूँ कि केवल जीत या हार ही लूँगा। मैं सदा याद रखूँगा, 'मैं खेल रहा हूँ।' मैं जी-जान से जीतने की चेष्टा करूँगा; परन्तु हारने पर शोक नहीं करूँगा। मैं हार के भय से भयभीत नहीं हूँ और जीत की लालसा से मुग्ध नहीं हूँ। मैं खेल में आनन्द चाहता हूँ, जीत-हार के बारे में चिन्ता नहीं करता। जो जीत – केवल जीत ही चाहता है, वह अपना मनुष्यत्व खो बैठता है, सत्य पथ पर दीर्घ काल तक टिक नहीं सकता और अपनी शान्ति का पथ अवरुद्ध कर लेता है। आनन्दहीन चिन्तामग्न जीवन बिताता है। जो केवल खेल का आनन्द लेना चाहता है, उसे हार में भी अपनी शक्ति का परिचय मिलता है, उसका स्नायुजाल पराजय की सम्पूर्ण ग्लानि को दूर करके उसे चरम आनन्द के पथ पर ले जाते हैं।

वह जो पके हुए केशों दन्तहीन वृद्ध है, वही दो दिन बाद माँ की गोद में बैठकर स्तनपान करेगा। मनुष्य मार्ग के बीच की घटना को देख नहीं पाता, इसलिये शिशु को शिशु ही समझता है, वृद्ध की बाल्य-लीला भूल जाता है। हममें से प्रत्येक कितना प्राचीन है, कितना अनुभवी है, यदि यह जानते, तो फिर इस जगत् का खेल कैसे चलता! हम देखते हैं कि रवीन्द्रनाथ शिशु थे, विश्ववरेण्य कवि हुए। पर हम यह सोचकर नहीं देखते कि व्यक्ति जो नहीं है, वह क्या हो सकता है! हम सज्जा-कक्ष की जानकारी नहीं रखते। केवल मंच पर हो रहे नृत्य को लेकर ही उन्मत्त हैं। विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार से एक नाटक का भी अभिनय कर रहे हैं, इस साधारण-सी बात को भी हम समझना नहीं चाहते। क्यों नहीं चाहते? क्योंकि हम सब कुछ भूलकर खेल में उन्मत्त रहना चाहते हैं। केवल दुश्चिन्ता, केवल भय; 'मजा' कैसे मिले, इसकी जानकारी लेने के लिये भी हमारे पास फुरसत नहीं है। इससे जीवन के कितने आनन्द से हम वंचित हैं, इसे सोचने से केवल दु:ख ही होता है।

इसीलिये, मैं छाती ठोककर खेल के मैदान में खड़ा हूँ – मैं भय और चिन्ता की परवाह नहीं करता। मैंने जान लिया है कि वीर की मृत्यु एक बार होती है और कापुरुष तिल-तिल कर पल-पल मरता रहता है।

(५)

मैं कम-से-कम चौरासी लाख बार जन्मा और मरा हूँ। और, जन्म-मृत्यु के बीच मार्ग पर सुख-दु:ख, भले-बुरे के द्वन्द्व-खेल में कितने करोड़ों बार हँसा हूँ, कितने करोड़ बार रोया हूँ। दुनिया का कोई भी सुख और कोई भी दु:ख मेरे लिये अपरिचित नहीं है। इतना सा ही तो जगत् है – पाँच प्रकार की सब्जियों का भोज मैंने करोड़ों बार खाया है! यह जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द – इनके अतिरिक्त और क्या है, बोलो? ये ही तो पाँच व्यंजन हैं – कभी नमक-मिर्च में पका, तो कभी मिष्ट-मधुर सुस्वादु! इसके अतिरिक्त जगत् छठाँ कुछ बिल्कुल भी नहीं है! इसमें अब देखने और समझने के लिये क्या बाकी है, बोलो? आँखें बन्द करके खाते जाना – 'जिस दिन विधि का जैसा लेख, वह दिन वैसा जाता देख।'

(६)

देह के सुख-दु:ख, मन के सुख-दु:ख – ये ही तो थोड़ी सी घटनाएँ हैं। इनमें से कोई भी मेरे लिये अपरिचित नहीं हैं। मन की आग में मैं कितनी ही बार जला हूँ, लकड़ी की आग में जलकर मेरा शरीर कितने हजारों बार राख हुआ है। मेरा हाड़-मांस कितने बार जानवरों ने चबाकर खाया है। पर मेरा तिल मात्र भी हानि हुआ हो, ऐसा तो नहीं लगता।

कितना संचित धन हाथ से निकल गया, कितनी प्रिय वस्तुओं का क्षय हुआ, कितने अपमान पुंजीभूत हुए, परन्तु मैं तो जैसे का तैसा ही रहा। बचपन का सौन्दर्य-माधुर्य मैंने अभी-अभी तो ध्वंस होते देखा है, कहाँ, मन में बिन्दु मात्र भी तो भय-त्रास का संचार नहीं हुआ। हर जन्म में मेरे कितने प्रियजन थे, जिन्हें आँख के परे रखना तक कठिन था। उनकी स्मृतियाँ तक कहाँ रहीं? सुख-दु:ख देते-देते सभी वस्तुएँ नेत्रों के सामने से खिसक जाती हैं। मैं –

वही चिर काल का मैं – अक्षय, अखण्ड, निर्भय धरती के सीने पर घूम-फिर रहा हूँ! मैं भ्रम के कारण कभी-कभी भयभीत हो जाता हूँ – परन्तु भय का कोई कारण खोजकर भी तो नहीं मिलता!

कवि कहते हैं – 'जग-प्रवाह में बहे चलो, तुम जहाँ कहीं हो बन्धु। सूर्य-चन्द्र जा रहे जहाँ, चलो वही पर सिन्धु।' मेरे पाँवों के नीचे धरती लट्टू के समान जोरों से नाच रही है, नील आकाश में ग्रह-नक्षत्र छोटे बच्चों के समान नाचते-नाचते चले जा रहे हैं, इस संसार के मार्ग से होकर ये किस रूप के बाजार में चले जा रहे हैं! क्या तुम जानते हो कि इस दौड़-धूप का अन्त कहाँ होगा? कोई नहीं जानता कि वह कहाँ जायेगा, क्यों जायेगा, तो भी इतनी दौड़धूप! कौन कहाँ क्या छोड़ता जा रहा है, किसी को इसका कोई हिसाब करते नहीं देखता, तो भी मैं – केवल मैं ही हिसाब करके क्यों मरता हूँ। जिसे छूटना है, वह छूटे। मैं दौड़ रहा हूँ, और भी जोर से दौड़ूँगा, टूट-फूट का भय नहीं करूँगा। कुछ-न-कुछ पीछे छोड़कर जाना ही होगा। परन्तु अब मोह नहीं रखूँगा। जिस-जिस से हो सके, साथ चले, जिससे न हो सके वह अपना रास्ता देखे; क्षय, क्षति, हानि, हार का भय मैं छोड़ रहा हूँ।

(७)

इस जीवन में भी घटित हुई कितनी घटनाओं की याद है? बचपन के मित्र तरुणाई में, तरुणाई के सखा यौवन में, यौवन के साथी वार्धक्य में विस्मृति के अतल जल में डूब चुके हैं। पिछले जन्मों के किसने कहाँ जाकर जन्म लिया है, यह तो कोई जानता ही नहीं! पुत्र के शोक में आतुर माता अपने करुण क्रन्दन से पाषाण तक को विगलित कर देती है, एक बार पुत्र का मुख देखने की दुराशा में जलती-भुनती रहती है; परन्तु वही पुत्र यदि नये जन्म में नये वेश में आकर सामने खड़ा हो, तो क्या माँ उसे पुत्र के रूप में स्वीकार करेगी? हम लोग केवल बाह्य आवरण के सेवक हैं! हमारी दृष्टि चरम का भेदन नहीं कर सकती! हम लोग संसार-नदी के ऊपर बहे चले जा रहे हैं; नदी के जल में मकर, घड़ियाल, रोहू, कातला हैं। मोती-मुक्ता भी हैं, पर हम उनकी जानकारी नहीं रखते। हम केवल जल के ऊपर बह रहे हैं – सब छोड़ते चले जा रहे हैं – क्या रह जाता है और क्या छूट जाता है, इसका हिसाब-किताब करने का हमारे पास समय नहीं है। छोड़ना ही मानो हमारा कार्य है, रखने की बात हम भला कहाँ सोचते हैं? जिसे छोड़ना है, उसे पकड़े रहने का प्रयास ही मानो जीवन है। जो छूटनेवाला है, वह छूटता जा रहा है, जो रहनेवाला है, वह हजारों धिक्कार के बावजूद किसी भी प्रकार नहीं जाता!

हम कीट-पतंग, जीव-जन्तु, मनुष्य-देवता – चाहे जो भी बनें, चाहे जैसा भी सजें, परन्तु प्रेम का नशा नहीं जाता। कितनी मृत्युओं को हमने अंगीकार किया है, कितनी जलनों को स्वीकार किया है, परन्तु रहने का नशा नहीं गया। घर जल जाने पर भी कौन दुबारा घर नहीं बनाता? शोकातुरा माता क्या कभी गर्भधारण करने से डरती है? चाहिये, चाहिये, चाहिये – यही एक ध्वनि तो जगत् में सुनाई देती है। परन्तु क्या चाहिये; क्यों चाहिये, यह भी क्या कोई सोच कर देखता है? कौन गया, कौन आया – इसकी जानकारी लेने का धैर्य नहीं है, केवल –

जो पाता हूँ, वही घर ले जाता हूँ
अपना मन भुलाने को।
अन्त में देखता हूँ कि हाय, सब टूट जाता है
और धूल धूल में ही मिल जाता है।

हम लोग भविष्य नहीं जानते, अतीत भूल चुके हैं, केवल वर्तमान को लेकर ही उन्मत्त हैं। हमको फुटकर चाहिये, पूरा नहीं। हम दाहिने नहीं देखते, बाँये नहीं देखते, आँखों पर पर्दा लगाये हुए घोड़े के समान सामने दौड़ते रहते हैं। सर्वदा खोते रहते हैं, इसीलिये निरन्तर पाने चिन्ता करते रहते हैं। कहाँ रखेंगे, यह न सोचकर, जो भी मिलता है, वह ले आते हैं – इसीलिये साधारण वस्तु छीके पर रहती है और मूल्यवान चीज धूल फाँकती है। चाहने के नशे के बहाने पाने का नशा होता है! उसके साथ चलता है उसे खोने का भय। इसीलिये हम मिथ्या भय से मरते हैं।

इसीलिये जिसको जो भी लेना है, ठोक-बजाकर लो। जरूरी-बेजरूरी चुन लो, कहाँ कौन-सा रखोगे, सोच लो; कितने दिन किसकी जरूरत होगी, जान लो। उसके बाद निश्चिन्त होकर बिना किसी चिन्ता के निर्भय दौड़े चलो। ❑

(स्वामी प्रेमेशानन्दजीर पत्र-संकलन, बँगला ग्रन्थ, अखण्ड सं., पृ. ५८९-९२ से अनूदित)
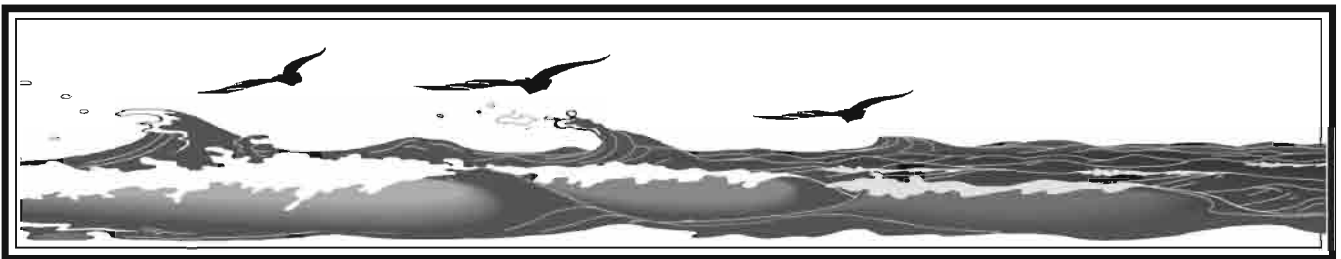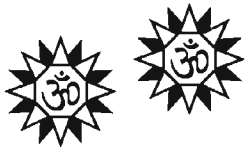
पत्रों में स्वामीजी की स्मृतियाँ (२)

जोसेफिन मैक्लाउड

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

जिस किसी ने स्वामीजी की सेवा की है, या कभी उनके सम्पर्क में भी आया है, उसके लिये जोसेफिन के हृदय में विशेष स्थान था – "आज श्रीमती राइट मुझसे मिलने आ रही हैं। ये हार्वर्ड विश्वविद्यालय के उन प्राध्यापक की पत्नी हैं, जिन्होंने स्वामीजी को विश्व-धर्मसभा में भेजा था। अब मुझे स्वामीजी के दण्ड तथा कमण्डलु को ढूँढ़ने के प्रयास में लगना है।" (२० फरवरी, १९१२)। मैंने मेरी हेल मैटीनी[९] को लिखा है कि मैं स्वामीजी की एक स्फटिक की मूर्ति हेल परिवार को सहर्ष प्रदान करूँगी, बशर्ते कि इसे इंग्लैंड से ले जाकर कोई पहुँचाने वाला मिले। यदि उन लोगों ने उस वर्ष भर उनकी देखभाल नहीं की होती, तो हम शायद कभी उन्हें अपने बीच नहीं पाते। स्वामीजी के कार्य में किस प्रकार हर व्यक्ति की अलग-अलग भूमिका है, इस पर विचार करना बड़ा रोचक लगता है; है न! हेल परिवार ने पूरे साल भर उन्हें अपने पास रखा और मुझे लगता है कि (अपने व्यवहार के द्वारा) वे लोग सर्वदा उनके मन में अमेरिकी नारियों के प्रति प्रशंसा तथा सम्मान का भाव उत्पन्न करते रहे, जो कि उनके जीवन की एक मूलभूत धारणा हो गयी थी। उसके बाद स्वामीजी की शायद ही कभी उन लोगों से मुलाकातें या पत्र-व्यवहार हुआ। इसके बाद 'हम' आये और अन्त तक – सात वर्ष बने रहे। (२४ अप्रैल, १९२२)। "मेरी हेल मैटिनी अपनी माता, बहन तथा पति के प्रति मधुर, संवेदनायुक्त तथा निष्ठापूर्ण भाव के साथ अपना स्वयं का आनन्दपूर्ण जीवन बिता रही है। स्वामीजी ने जो महान् सुर उन लोगों को प्रदान किया था, वह उनके अन्तःकरण में सुरक्षित है, परन्तु उनके कार्य में सहायक बनने की कोई प्रवृत्ति नहीं है। तो भी उसने मुझे मठ के लिये ५ पौंड और उनकी किताबें खरीदने के लिये ५ पौंड दिये। मुझे लगता है कि यही उसका पहला दान है। वे लोग विलासिता में रहते हैं – सुसज्जित बँगला, दो सेविकाएँ, श्रीमती हेल के लिये एक परिचारिका और मोटर-गाड़ी – सब कुछ है। मेरी अपने को इटैलियन महसूस करती है और इटली के स्थानीय दातव्य संस्थाओं को सेवा तथा धन प्रदान करती है। वह जैसे है, उसी रूप में मैं उसे स्नेह करती हूँ।" (१५ दिसम्बर, १९२५)। डेविड मार्गसन की नियुक्ति से प्रिय इसाबेल[१०] को बड़ी खुशी होगी। उसने स्वामीजी को जैसा पहचाना है, इस कारण मैं उसके प्रति बहुत, या फिर शायद सर्वाधिक ऋणी हूँ।" (२५ दिसम्बर, १९४०)। "जब वह (मालविना हाफमैन) केवल आठ या नौ वर्ष की थी, तभी उसने ३८ वीं सड़क पर स्थित एक बोर्डिंग हाउस में स्वामीजी को देखा था। इसलिये हम लोगों के बीच एक सच्चा सम्बन्ध जुड़ गया। कितनी विचित्र बात है!" (९ मई, १९४१)।

उन्हें जब भी कोई स्वामीजी का प्रशंसक मिलता, तो वे तत्काल उसके प्रति लगाव का बोध करतीं – "बहुत दिनों से तुम्हारा कोई व्यक्तिगत पत्र न आने के कारण मुझे बड़े अभाव का बोध हो रहा है। तीन दिन पहले फ... के एक पत्र से उसके जीवन की सारी बातें ज्ञात हुईं ... और अन्ततः यह भी पता चला कि उसने ४५ साल की आयु में किस प्रकार स्वामीजी की खोज की; अब वह उनकी जीवनी पढ़ रही है। उसने लिखा है, 'उनका १८९३ की शिकागो-धर्म-महासभा में आना एक कैसी काव्यमय घटना थी!' अतः अब उसके साथ मेरे पुराने और नये सम्बन्ध भी होंगे। जीवन कितना अद्भुत है, है न!" (२७ दिसम्बर, १९४०)।

जोसेफिन ने अपने पत्रों में स्वामीजी की अनेक उक्तियों का उल्लेख किया है; उदाहरणार्थ – " 'हर चीज के पीछे एक कारण है; उस कारण को ढूँढ़ निकालो' – मेरी समझ में वस्तुतः यही स्वामीजी की शिक्षाओं का आधार है।" (१४ सितम्बर, १९२२)। "मैं समझती हूँ कि 'अपनी स्वाधीनता

९. ये शिकागो के श्री तथा श्रीमती जार्ज डब्ल्यू. हेल की पुत्री थीं। स्वामीजी ने अपनी पहली अमेरिका यात्रा के समय काफी दिनों तक इन्हीं के घर में निवास किया था। स्वामीजी उन्हें बहन के रूप में सम्बोधित करते थे और उनके नाम अनेक पत्र लिखे। बाद में इटली के श्री मैटीनी नामक एक धनाढ्य व्यक्ति के साथ उनका विवाह हुआ।

१०. लन्दन की श्रीमती इसाबेल मार्गसन

में सहज विश्वास ही समस्त बुद्धि-विचार का आधार है'' – जैसा कि स्वामीजी ने जोर देकर कहा है।'' (२४ अक्तूबर, १९२३)। ''हमारे स्वामीजी ने कहा था, 'अपने वास्तविक स्वरूप से व्यक्ति चिर-मुक्त है, परन्तु मानसिक तथा शारीरिक स्तर पर सदा बद्ध है, यही संघर्ष का कारण है।' '' (२५ मार्च, १९२५)। ''स्वामीजी ने कहा था, 'मुझे बताओ कि तुमने कितने कष्ट सहे हैं; और (उससे) मैं बता दूँगा कि तुम कितने महान् हो।' '' (१६ फरवरी, १९१६)। ''जैसा कि स्वामीजी ने कहा है, 'अपने दोष-त्रुटियों से लड़ो मत, अपने आपको अन्य कुछ से भर लो; तब देखोगे कि पोषण के अभाव में वे स्वयं ही नष्ट हो जायेंगी।' '' (२७ मार्च, १९३७)। ''स्वामीजी कहते हैं, 'हृदय ही तुम्हारी जीवन-नदी है; मस्तिष्क नदी के ऊपर का सेतु (पुल) है – सर्वदा अपने हृदय का ही अनुसरण करो।' '' (५ दिसम्बर, १९२३)। ''जैसा कि स्वामीजी कहते थे – पहले (ईश्वर-रूपी) खम्भे को पकड़ लो, उसके बाद जिस खेल की भी इच्छा हो, खेलो; खम्भे को छोड़ अन्य किसी भी चीज का महत्त्व नहीं है।'' (२९ जनवरी, १९२५)। ''स्वामीजी कहते हैं, 'जहाँ कहीं भी मलिनता (पाप), या अध:पतन या अज्ञान है; वहाँ मैं अपनत्व का बोध करता हूँ।' '' (२६ फरवरी, १९१३)। ''जिसका लोगों में विश्वास नहीं है, मुझे लगता कि वह अधिक आगे नहीं बढ़ सकता है। स्वामीजी के चरित्र में यही भाव प्रबल था। वे जानते थे कि हम में से प्रत्येक ईश्वर की सन्तान है; और इसीलिये उन्होंने घोषणा की, 'प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण या द्विजन्मा बनाओ, हजारों की संख्या में बनाओ, देश-के-देश ब्राह्मण बनाओ; इससे सम्पूर्ण मानव-जाति की उन्नति होगी।' '' (६ अप्रैल, १९२८)। ''अपनी महासमाधि के एक दिन पूर्व स्वामीजी ने लोगों को बताया कि यह स्थान – बेलूड़ मठ (भविष्य में) कितना महान् होनेवाला है! सुननेवाले अविश्वास में मुस्कुरा उठे थे। उन्होंने कहा था, 'इस स्थान की महत्ता ९०० वर्षों तक कायम रहेगी। कुछ भी इसमें बाधक नहीं हो सकेगा।' '' (२९ जून, १९२२)।

जोसेफिन भगिनी निवेदिता के समान सर्वत्यागी नहीं थीं; और ऐसा भी नहीं था कि उन्होंने भगिनी क्रिस्टिन के समान एक ही आदर्श के प्रति अपना पूरा मन-प्राण लगा दिया हो; तथापि अपनी निजी पद्धति से स्वामीजी के विचारों के प्रचार तथा क्रियान्वयन को उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। जब हम उनके पत्र पढ़ते हैं, तो इस विषय में उनके उत्तरदायित्व का भाव स्पष्ट दीख पड़ता है।

बेलूड़ मठ के भविष्य से सम्बन्धित कोई शुभ घटना होने पर उन्होंने उल्लासपूर्वक लिखा – ''केवल एक छोटे-से धागे की जिम्मेदारी सँभालना और उपयोग हेतु उसे गाँठ पड़ने से बचाकर सीधा रखते हुए, वस्त्र की पूरी डिजाइन की बुनाई देखते रहना – कितनी मजेदार बात है!'' (३ मार्च, १९२६)। एक अन्य समय उन्होंने लिखा – ''तुम जानती हो कि स्वामीजी एक महान् ऋषि थे; जो सुदूर भविष्य में विश्व के समक्ष आनेवाले मुद्दों तथा परिवर्तनों को देख सकते थे। उनकी दृष्टि सत्य थी। यही मेरे लिये एक परम सन्तोष की बात है। यह बात हमारे आज के उत्तरदायित्व में कोई कमी नहीं लाती, बल्कि समस्याओं के समाधान के लिये और भी अधिक अवसर प्रदान करती है।'' (२ जुलाई, १९४१)।

अपनी सुदीर्घ जीवन-यात्रा के दौरान जोसेफिन हर तरह के लोगों के सम्पर्क में आयीं; और उनमें से अनेक लोगों को उन्होंने स्वामीजी के आदर्शों में अनुप्राणित करने की चेष्टा की। प्रस्तुत हैं उनके पत्रों में बिखरे हुए इसके कुछ उदाहरण – ''मैंने उस (धनगोपाल मुखर्जी) पर अपने हृदय का वह सारा धन उड़ेल दिया है, जो मुझे स्वामीजी से प्राप्त हुआ था – अब मेरा कार्य समाप्त हुआ और मैं एक विचित्र हल्केपन का अनुभव कर रही हूँ।'' (१७ जून, १९२२)।

''बर्नार्ड शा दम्पति से मुझे कोई पत्र नहीं मिला, क्या तुम्हें मिला है?... कौन जाने उन्हें मेरे द्वारा भेजी हुई स्वामीजी की लैलिक स्फटिक की मूर्ति मिली या नहीं! दो माह पूर्व मैंने श्रीमती शा को लिखा था, पर अभी तक कोई उत्तर नहीं आया।'' (७ नवम्बर, १९२२)। ''बर्नार्ड शा के ८८वें जन्म-दिन पर न्यूयार्क टाइम्स में उनका एक चित्र छपा था, जिसमें उन्हें लकड़ी चीरते हुए दिखाया गया था, मैंने उन्हें लिखा कि हम दोनों ही अस्सी से ऊपर की आयु वाले हैं, परन्तु वे काफी व्यायाम करते हैं, जबकि मैं जरा भी नहीं करती; इस पर मुझे तत्काल उनके सुन्दर हस्तलेख में एक पोस्टकार्ड मिला, 'प्रिय जोसेफिन, तुम्हारा पत्र पाकर मुझे बड़ी खुशी हुई। पिछले १२ सितम्बर से मैं विधुर हो गया हूँ। इस घटना के थोड़े ही पूर्व हम दोनों तुम्हारे बारे में बातें कर रहे थे और सोच रहे थे कि तुम कहाँ होगी। तुम एक विशेष मित्र थी, अब भी हो और हमें आशा थी कि हम लोग हॉल्सक्राफ्ट[११] में फिर मिलेंगे। परन्तु लोक-चक्षुओं से दूर अब मैं अपेक्षाकृत ठीक ही हूँ। अब मैं काफी वृद्ध हो चुका हूँ। जी. बर्नार्ड शा।' मैंने उन्हें तत्काल उत्तर दिया कि इस नवीन संसार में हमारे लिये करने को बहुत कुछ होगा। इसके बाद मैंने उन्हें विलकॉक्स[१२] के बंगाल की सिचाई-योजना आदि के बारे में बताया।'' (१८ सितम्बर, १९४४)। लार्ड लिटन[१३] ने २६ फरवरी को लिखा था, 'बेलूड़ मठ देखकर

११. इंग्लैंड में स्ट्रैटफोर्ड-आन-एवान अंचल का एक प्रसिद्ध बँगला

१२. सेवानिवृत्त इंजीनियर सर अल्फ्रेड विल्काक्स; मिस मैक्लाउड ने उनसे बंगाल की सिचाई-व्यवस्था के पुनरुद्धार का कार्य हाथ में लेने का अनुरोध किया था।

१३. बंगाल के तत्कालीन लेफ्टीनेंट गर्वनर

हमें अपार आनन्द हुआ और मैं चिर काल तक कृतज्ञतापूर्वक उस शान्तिधाम का स्मरण करता रहूँगा। विवेकानन्द की वह छोटी-सी स्फटिक मूर्ति मेरे लिखने की मेज पर खड़ी है और प्रतिदिन अपराह्न के समय जब अस्तमान सूर्य की किरणें इस पर पड़ती हैं, तब यह मानो एक पवित्र ज्योति से आलोकित हो उठता है।' '' (५ मार्च, १९२४)।

''लेडी वेवेल ने इसाबेल (मार्गसन) को स्वामीजी की स्फटिक मूर्ति के लिये और मुझे स्वामीजी की चार छोटी पुस्तकों के लिये धन्यवाद देते हुए पत्र लिखा है। ८५ वर्ष की आयु में भी इन सत्यों के प्रसार में काम आना कितने आनन्द की बात है!'' (१९ जून, १९४४)। इसाबेल मार्गसन ने फरवरी (१९३९) के प्रबुद्ध भारत में स्वामीजी के विषय में अपनी उज्ज्वल स्मृतियों का एक पृष्ठ लिखा है। शायद किसी दिन तुम भी ऐसा ही करोगी।'' (१० फरवरी, १९३९)। ''क्या तुम्हारे पास शंकराचार्य का 'विवेक-चूड़ामणि' ग्रन्थ है? यदि न हो, तो एक माँग सकती हो। मैंने उसे चार प्रतियाँ भेजी हैं। तुम जानती हो, स्वामीजी ने कहा था कि वे शंकराचार्य हैं, ८०० वर्ष बाद एक बार फिर आये हैं।'' (१० अप्रैल, १९४४)।

''पिछली शाम को साढ़े छह बजे, जब मेरी मच्छरदानी लगा दी गयी थी, तभी दो भाई मुझसे मिलने आये। उनमें से छोटा २८ वर्ष की आयु का था, (वह पिछले नौ महीने से ढाका के रामकृष्ण मठ का सदस्य है)। वह उन ७२ नये कैदियों में से एक है, जिन्हें अट्ठारहवीं शताब्दी के एक हुक्मनामे के आधार पर गिरफ्तार किया गया था और जो २४ अक्तूबर से ढाका के जेल में था। आज उसे चौबीस परगना जिले के पुलिस सुपरिंटेंडेंट के सामने निश्चित रूप से हाजिर होना है और अगला आदेश आने तक उसे बंगाल के हरोआ गाँव में नजरबन्द रहना होगा।... इसलिये मुझे उन्हें इसका वास्तविक तात्पर्य और साथ ही यह भी बताने का अवसर मिल गया कि वह भारत तथा स्वामीजी के लिये क्या कर सकता है। स्वामीजी का आदर्श था कि भारत के प्रत्येक गाँव (जिनकी संख्या सात लाख से भी अधिक है) में एक केन्द्र और उस गाँव का पुनर्निर्माण करने के लिये एक शिक्षित व्यक्ति हो। अत: मैंने उसे स्वामीजी के साहित्य के पाँच खण्ड दिये और कहा कि जगदम्बा ने ही गवर्नर तथा कौंसिल के माध्यम से उसे अपने कार्य के लिये चुना है। ... देखते-ही-देखते दोनों भाइयों के चेहरे पर निराशा की जगह आशा की किरण खिल उठी। वे प्रारम्भ करने को उत्सुक थे और बोले कि वे 'अज्ञानी हैं और यह नहीं जानते थे कि 'जगदम्बा' इस तरह से कार्य करती हैं।' सरल बच्चे! तब मैंने उनसे कहा कि स्वामीजी ने अपने धर्म की परिभाषा की है – 'सीखना'; और इसी भाव के साथ इस नये हरुआ गाँव में जाओ। वहाँ जाकर गाँव की जरूरतों को समझो; लोगों को सफाई, अंग्रेजी तथा स्वामीजी के आदर्शों की शिक्षा दो और बताओ कि कैसे उन्हें जीवन में रूपायित करके भारत को उठाया जाय।'' (२७ नवम्बर, १९२७)

पाश्चात्य देशों में स्वामीजी के सन्देश के प्रचार को जोसेफिन अपना विशेष उत्तरदायित्व समझती थीं। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के बाद उन्होंने लिखा – ''भारत या यूरोप के युद्धक्षेत्र में जाने की मेरी जरा भी इच्छा नहीं है; और जैसा कि स्वामीजी ने कहा था, 'मेरा कार्य पश्चिम में अधिक होगा और वहाँ से यह भारत के ऊपर प्रतिक्रिया करेगा।' भारत की अपेक्षा मैं अमेरिका से कहीं अधिक सहायता कर सकूँगी। अमेरिका में इस समय सैकड़ों लोग भारतीय आध्यात्मिकता में रुचि ले रहे हैं; उनकी संख्या बढ़कर हजारों और उसके बाद लाखों में हो जायेगी; और चूँकि अमेरिका एक प्रमुख देश बनता जा रहा है, इसका प्रभाव क्रमश: पूरी दुनिया में फैल जायेगा।'' (६ मार्च, १९४०)।

जब कभी कोई समारोह होता, किसी नये केन्द्र का श्रीगणेश होता, या कोई विशेष पूजा होती, तो जोसेफिन वहाँ उपस्थित रहने का प्रयास करती, क्योंकि उनका हार्दिक विश्वास था कि उनकी उपस्थिति से उस कार्यक्रम को स्वामीजी का स्पर्श प्राप्त होगा। वे लिखती हैं – ''धीरे-धीरे स्वामीजी का सन्देश प्रचारित करने के लिये नये-नये केन्द्र बनते जा रहे हैं। कुमारी स्पेंसर के मकान के तलघर में एक छोटे-से ध्यान-कक्ष के उद्घाटन हेतु कल हम तीन लोग एकत्र हुए थे। इसका कुछ तात्पर्य हो सकता है, या नहीं भी हो सकता है। मूल बात यह है कि हम उनका यह सन्देश सर्वदा अपने समक्ष रखें कि सभी मनुष्य दिव्य हैं।'' (१६ मार्च, १९१४)। ''आज निखिलानन्द के केन्द्र (न्यूयार्क) में मैंने एक घण्टे तक कालीपूजा देखी। हम करीब बीस लोग थे। वे लोग अपने केन्द्र में मेरा आना बहुत पसन्द करते हैं, क्योंकि मैं स्वामीजी से परिचित थी। (८ अक्तूबर, १९४०)। ''लगता है कि स्वामीजी को भलीभाँति तथा व्यक्तिगत रूप से जानने-वाले व्यक्तियों में एकमात्र मैं ही जीवित हूँ। जुलाई १८९३ ई. में स्वामीजी के शिकागो, अमेरिका आने का यह पचासवाँ वर्ष है, अत: प्रत्येक वेदान्त-केन्द्र में इसे मनाया जायेगा। निखिलानन्द की इच्छा है कि मैं (न्यूयार्क के) १७/९४ नं. भवन में स्थित उनके केन्द्र में एक छोटा-सा व्याख्यान दूँ। मठाध्यक्ष स्वामी विरजानन्द ने अपने पिछले पत्र में लिखा है कि 'टैंटाइन (जोसेफिन) ने पिछले ४८ वर्षों से स्वामीजी की जीवन्तता को बनाये रखा है, यह उनकी (स्वामीजी) आध्यात्मिक शक्ति का द्योतक है।'' (६ अक्तूबर, १९४३)।

❖ (क्रमश:) ❖

देवेन्द्रनाथ ठाकुर

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

'ब्राह्मसमाज' राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) द्वारा १८२८ ई. में सर्वप्रथम 'ब्राह्मसभा' के नाम से प्रारम्भ किया गया था। यद्यपि इसकी शुरुआत बड़े साधारण रूप में हुई, परन्तु बाद में देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५) के नेतृत्व में इसने भारत में अद्भुत उन्नति की। देवेन्द्रनाथ को लोग 'महर्षि' कहकर सम्बोधित करते थे। १८६२ ई. में हिमालय से लौटने के कुछ काल बाद ही उन्होंने २३ वर्षीय युवक केशवचन्द्र सेन को अपना उत्तराधिकारी चुना। आगे चलकर केशवचन्द्र उनसे भी आगे निकल गये और ब्राह्मसमाज में होनेवाले कई विभाजनों के कारण बने।

श्रीरामकृष्ण को प्रत्येक सम्प्रदाय के सन्तों, साधकों तथा भक्तों से मिलने जाने का शौक था। इन मुलाकातों के द्वारा वे बाह्य जगत् के सम्पर्क में आये और दूसरे साधकों की आध्यात्मिक अनुभूतियों के विषय में जाना। इसके फलस्वरूप वे अपनी स्वयं की अमोल आध्यात्मिक सम्पदा को और भी अच्छी तरह समझने में सक्षम हुए। परवर्ती काल में वे बताया करते थे कि उन लोगों में उन्होंने क्या-क्या गुण देखे। बीच-बीच में वे देवेन्द्रनाथ की भक्ति तथा उनके उदार धार्मिक दृष्टिकोण का उल्लेख किया करते थे।[१]

देवेन्द्रनाथ ठाकुर अपनी विरक्ति तथा भगवद्-भक्ति के लिये प्रसिद्ध हो रहे थे। श्रीरामकृष्ण जब स्वयं ही अध्यात्म-जगत् की अतल गहराइयों की खोज में लगे हुए थे, तभी उन्होंने देवेन्द्रनाथ के विषय में सुना। उनके मन में देवेन्द्रनाथ से मिलने की इच्छा का उदय हुआ। उन्होंने अपने शिष्य मथुरबाबू के समक्ष यह प्रसंग उठाया, परन्तु उनमें कोई विशेष उत्साह नहीं दिख पड़ा। बाद में श्रीरामकृष्ण ने बताया था, "एक दिन मैंने मथुर से देवेन्द्रनाथ ठाकुर के घर ले चलने का अनुरोध किया। मैं बोला – 'देवेन्द्र ईश्वर का नाम लेते हैं, मैं उन्हें देखना चाहता हूँ, क्या तुम मुझे ले चलोगे?' मथुरबाबू को अपनी मान-मर्यादा का बड़ा अभिमान था, वे अपनी गरज से किसी के मकान पर क्यों जाने लगे? आगा-पीछा करने लगे। बाद में बोले, "अच्छा, देवेन्द्र और हम एक साथ पढ़ चुके हैं, चलिए, आपको ले चलेंगे।'' '[२]

महर्षि का मकान दक्षिणेश्वर से आठ मील दूर जोड़ासाँको मुहल्ले में स्थित था। एक दिन श्रीरामकृष्ण अपने भानजे हृदयराम के साथ उनके घर की ओर चल पड़े। १८६६ ई. के प्रारम्भ[३] में सम्भवत: वह ब्राह्मसमाज के वार्षिकोत्सव के एक-दो दिन पूर्व की जाड़े की सुबह थी। श्रीरामकृष्ण की आयु ३० और देवेन्द्रनाथ की करीब ४९ वर्ष थी।

जोड़ासाँको में देवेन्द्रनाथ के घर पहुँचकर मथुर बाबू उनके बैठकखाने में प्रविष्ट हुए, जबकि श्रीरामकृष्ण तथा हृदयराम बरामदे में टहलते रहे। मथुर बाबू द्वारा आगन्तुक के विषय में सूचित किये जाने पर देवेन्द्रनाथ ने बाहर निकलकर विचित्र-से दिखनेवाले अतिथि का स्वागत किया। उन दिनों श्रीरामकृष्ण बड़ी मुश्किल से अपनी कमर में धोती लपेटे रह पाते थे और कुर्ता पहनने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। वे अपने शरीर को एक मोटी चादर से ढँके रहते। श्रीरामकृष्ण

१. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, नागपुर, द्वितीय खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ. ३२९

२. श्रीम, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. २२१; एक अन्य समय श्रीरामकृष्ण ने इस घटना का इस प्रकार उल्लेख किया था – मथुरबाबू ने कहा, "अच्छा बाबा, मैं तुम्हे ले जाऊँगा, हम दोनों हिन्दू कालेज में एक साथ पढ़ते थे, मेरे साथ बड़ी घनिष्ठता है।" (श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ७५९)

३. गुरुदास बर्मन (श्रीश्री रामकृष्ण चरित) के मतानुसार श्रीरामकृष्ण १८६५ तथा १८६६ के बीच अपनी अद्वैत तथा इस्लाम साधना के अन्तराल में देवेन्द्रनाथ से मिलने गये थे। तोतापुरी के निर्देशानुसार निर्विकल्प समाधि की अनुभूति करने के शीघ्र बाद ही वे लगातार छह महीनों तक अद्वैत अवस्था के बोध में डूबे रहे। "जगदम्बा दासी को कठिन बीमारी से नीरोग करने के कारण या अद्वैत-भावभूमि में निरन्तर अवस्थान करने के निमित्त, सतत छह महीने तक श्रीरामकृष्णदेव ने जो अलौकिक प्रयास किया था, तदर्थ उनके दृढ़ स्वास्थ्य को धक्का लग चुका था और वे कई महीनों तक रोगग्रस्त रहे।" (लीलाप्रसंग, प्रथम खण्ड, द्वि. सं., पृ. ३७६)। अत: सम्भावना है कि छह महीने तक अद्वैत की अनुभूति में डूबे रहने के पूर्व ही श्रीरामकृष्ण की देवेन्द्र नाथ से भेंट हो चुकी थी। (रोमाँ रोलाँ : *The Life of Ramakrishna*, p. 162, foot-note)। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आयु उस समय चार वर्ष की थी। २३ जनवरी, १८६६ ई. को ब्राह्मसमाज का ३६वाँ वार्षिकोत्सव मनाया गया था। उपरोक्त तथ्य इस बात की ओर इंगित करते हैं कि यह भेंट सम्भवत: २२ जनवरी, १८६६ को हुई थी।

ने अपने स्वभाव के अनुसार बड़ी नम्रता के साथ देवेन्द्रनाथ का अभिवादन किया। देवेन्द्रनाथ ने जिज्ञासा तथा गम्भीरता के भाव सहित अतिथि का स्वागत किया।

मथुरबाबू तथा देवेन्द्रनाथ की काफी दिनों से आपस में मुलाकात नहीं हुई थी। देवेन्द्र ने मथुर से कहा, "तुम्हारे अन्दर थोड़ा बदलाव आ गया है। तुम्हारे पेट के चारों ओर चर्बी बढ़ गयी है।" इसके बाद मथुर ने श्रीरामकृष्ण से परिचय कराया। मथुर ने कहा, "ये तुम्हें देखने आये हैं। ये सर्वदा ईश्वर के भाव में उन्मत्त रहते हैं।"

बैठकखाने में ले जाये जाने पर श्रीरामकृष्ण ने देखा कि घर में डॉक्टर आये हुए हैं और नुस्खे लिख रहे हैं। डॉक्टर परिवार के अनेक बच्चों को देख रहे थे। रवीन्द्रनाथ तब चार वर्ष के थे और सम्भव है कि वे भी उन्हीं में एक रहे हों।

परिचय होने के साथ ही श्रीरामकृष्ण देवेन्द्र के शारीरिक लक्षण देखने की इच्छा व्यक्त करते हुए बोले – "मुझे अपना शरीर दिखाओ।" देवेन्द्रनाथ बिना कोई विस्मय प्रकट किये तत्काल राजी हुए। उन्होंने अपना कुर्ता उतार दिया और श्रीरामकृष्ण ने उनके शरीर की जाँच की। देवेन्द्रनाथ का शरीर काफी गोरा था और उनके सीने की त्वचा लालिमा से युक्त थी। उनके शरीर के बाल अभी श्वेत नहीं हुए थे। श्रीरामकृष्ण ने उनके सीने का स्पर्श किया।[४]

श्रीरामकृष्ण ने प्रारम्भ में ही देखा कि देवेन्द्र अभिमानी थे। बाद में उन्होंने बताया, "मैंने पहले ही देखा कि देवेन्द्र में थोड़ा अहं है। होना भी चाहिए – इतना ऐश्वर्य है, विद्या है, मान है। उसमें भीतर अभिमान देखकर मैंने मथुर से पूछा, 'अहंकार ज्ञान से होता है या अज्ञान से? क्या एक ब्रह्मज्ञानी में "मैं विद्वान् हूँ", "मैं ज्ञानी हूँ", "मैं धनी हूँ" – ऐसा अभिमान होगा?' "

गलीचे पर बैठते हुए श्रीरामकृष्ण ने देवेन्द्रनाथ के साथ बातचीत आरम्भ की, परन्तु अधिक कुछ बोलने के पूर्व ही उन्हें समाधि लग गयी। थोड़ी देर बाद वे जोरों से हँसने लगे और उसके बाद वे सामान्य स्थिति में वापस आ गये।[५]

श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही इस घटना का वर्णन किया था – "मैं देवेन्द्र से बातें कर रहा था, तभी मैं उस अवस्था में चला गया, जिसमें मैं मनुष्य का वास्तविक चरित्र देख पाता हूँ। उस अवस्था में निरे विद्वान तथा किताबी ज्ञानवाले तिनके के समान जान पड़ते हैं। जब देखता हूँ कि विद्वानों में विवेक और वैराग्य नहीं है, तब वे सब घास-फूस जैसे जान पड़ते हैं। तब यही दिखता है कि गीध बड़ी ऊँचाई पर उड़ रहा है, परन्तु उसकी नजर नीचे मरघट पर ही लगी हुई है।"

जैसा कि स्पष्ट है, श्रीरामकृष्ण ब्राह्मसमाज के धर्मगुरु से मिलकर निराश हुए। उन्होंने देखा कि देवेन्द्र वैसे नहीं हैं, जैसा कि लोग उनके बारे में कहते हैं। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा क्षण भर में ही देवेन्द्रनाथ की वास्तविकता जान ली।[६] बाद में उन्होंने अपना आकलन बताया – "मैंने देखा कि देवेन्द्र ने अपने जीवन में योग तथा भोग – दोनों का सामंजस्य कर रखा है। उसके बहुत-से छोटे-छोटे बच्चे थे। डॉक्टर आया हुआ था। इस प्रकार वह ज्ञानी होते हुए भी सांसारिक जीवन को लेकर व्यस्त था।"

उपरोक्त घटना अति अल्प समय में ही घट गयी। सामान्य अवस्था में आने पर श्रीरामकृष्ण ने मुस्कुराते हुए देवेन्द्रनाथ से कहा – "तुम कलिकाल के जनक हो।

यह संसार मौज की कुटी है;
मैं यहाँ खाता, पीता और मौज उड़ाता हूँ।
जनक राजा महातेजस्वी थे,
उनकी किसी बात में कसर नहीं थी।
जनक इधर और उधर – दोनों ओर का सँभालकर
दूध का कटोरा खाली कर दिया करते थे।।

"मैंने सुना था, तुम संसार में रहकर भी ईश्वर पर मन लगाये हुए हो, इसीलिए तुम्हें देखने आया हूँ, मुझे कुछ ईश्वर की बातें सुनाओ।"

देवेन्द्रनाथ ने वेद से कुछ सुन्दर अंश सुनाये। एक अंश जो श्रीरामकृष्ण के मन पर गहरी छाप छोड़ गया, उसका भाव इस प्रकार था – "यह संसार एक दीपक के पेड़ के समान है और प्रत्येक जीव इस पेड़ का एक एक दीपक है।' इससे भावविभोर होकर श्रीरामकृष्ण भावसमाधि में डूब गये। बाद में चेतना लौटने पर उन्होंने धीरे से कहा – "ठीक है, यह ऐसा ही है। अब बताओ कि इस मंत्र का तुमने क्या अर्थ समझा है?"[७] पंचवटी में ध्यान करते समय श्रीरामकृष्ण को एक दीपक के पेड़ का दर्शन हुआ था। देवेन्द्रनाथ के शब्दों से वह बिल्कुल मिल गया था। इससे उन्होंने सोचा – तब

---

४. गुरुदास बर्मन, श्रीरामकृष्ण चरित, पृ. ७८-९

५. जैसा कि उन्होंने हृदय को बताया था : श्रीरामकृष्ण चरित, पृ. ७९

६. श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में आध्यात्मिक दृष्टि से देवेन्द्र की अपेक्षा श्री केशवचन्द्र सेन कहीं अधिक उन्नत थे। एक दिन केशव ने उनसे पूछा – "क्या गृहस्थों के लिए... असम्भव है? महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर?" परमहंसदेव ने दो-तीन बार 'देवेन्द्रनाथ ठाकुर, देवेन्द्र, देवेन्द्र' कहकर उनके निमित्त कई बार प्रणाम किया, फिर बोले – "सुनो, एक के यहाँ देवी-पूजा के समय उत्सव मनाया जाता था, सूर्योदय के समय बलि चढ़ती थी और अस्त के समय भी। कई साल बाद फिर वह धूम न रह गयी। एक दूसरे ने पूछा – 'क्यों महाशय, आजकल आपके यहाँ वैसी बलि क्यों नहीं चढ़ायी जाती?' उसने कहा, 'अजी, अब तो दाँत ही गिर गये!' देवेन्द्र भी अब ध्यान-धारणा करता है – करेगा ही! परन्तु बड़ी शान का आदमी है – खूब मनुष्यता है उसमें।" (श्री अश्विनी दत्त द्वारा वर्णित, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग २, पृ. १२७५-७६)

७. हृदयराम के वर्णन के अनुसार (द्र. श्रीरामकृष्ण-चरित, पृ. ७९)

तो यह बहुत बड़ा आदमी है। श्रीरामकृष्ण के अनुरोध पर देवेन्द्रनाथ ने उस वेदमंत्र की व्याख्या करते हुए कहा – "इस संसार को पहले कौन जानता था? ईश्वर ने अपनी महिमा को प्रकाशित करके दिखाने के उद्देश्य से मनुष्य की सृष्टि की। पेड़ के उजाले के न रहने पर सब अँधेरा हो जाता है, पेड़ भी नहीं दीख पड़ता।"[८] वार्तालाप मित्रतापूर्ण परिवेश में चलता रहा। यह निश्चित रूप से नहीं मालूम कि श्रीरामकृष्ण ने कोई भजन भी गाये या नहीं। परन्तु पूरी सम्भावना है कि उन्होंने गाये थे। बातचीत काफी देर तक चली थी।

देवेन्द्रनाथ अपने अतिथि के नेत्रों में आग देखकर बड़े प्रभावित हुए थे।[९] श्रीरामकृष्ण के विदा लेने के पूर्व देवेन्द्रनाथ ने उन्हें निमंत्रण देते हुए कहा – "आपको हमारे ब्राह्मसमाज के उत्सव में आना होगा।"

श्रीरामकृष्ण बोले – "वह ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है; मेरी यह अवस्था तो देख ही रहे हो – वे कभी किसी भाव में रखते हैं, कभी किसी भाव में।"

देवेन्द्र ने कहा – "नहीं, आना ही होगा। पर धोती और चद्दर आप जरूर पहने हुए हों, आपको उल्टे-सीधे वेश में देखकर यदि किसी ने कुछ कहा, तो मुझे बड़ा कष्ट होगा।"

श्रीरामकृष्ण बोले – "मुझसे यह नहीं हो सकता, मैं बाबू नहीं बन सकूँगा!" देवेन्द्रनाथ और मथुर बाबू हँसने लगे।

श्रीरामकृष्ण उनसे विदा लेकर मथुरबाबू की घोड़ागाड़ी में दक्षिणेश्वर लौटे। अगले दिन देवेन्द्रनाथ के यहाँ से मथुर बाबू के नाम एक बड़ा नम्रतापूर्ण पत्र आया कि श्रीरामकृष्ण को उत्सव में आने की जरूरत नहीं है। उन्होंने लिखा था कि देह पर एक चद्दर भी न रहेगी, तो असभ्यता होगी।

इस प्रकार एक ऐसा परिचय समाप्त हुआ, जो बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता था। रोमाँ रोलाँ ने लिखा है – "अपने आदर्शवाद के स्वर्ग में सुरक्षित महसूस करनेवाले उस विशिष्ट व्यक्ति में पंजे का एक ही सहलावा कोई बदलाव नहीं ला सका।" इस मुलाकात ने देवेन्द्र के मन पर कोई गहरी छाप नहीं छोड़ी,[१०] परन्तु श्रीरामकृष्ण के मन में देवेन्द्रनाथ की उच्च आध्यात्मिक अवस्था के विषय में एक निश्चित धारणा बनी रही। वैसे, देवेन्द्रनाथ ने ईश्वर के लिये काफी त्याग किया है – इस धारणा में सुधार करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "उसने जैसा भोग किया वैसा बहुत कम आदमियों को नसीब हुआ होगा। मथुर बाबू के साथ मैं उसके यहाँ गया था...। इतने ऐश्वर्य का भोग करके भी यदि वह ईश्वर का चिन्तन नहीं करता, तो लोग कितना धिक्कारते!... यथार्थ त्यागी भक्त और संसारी भक्त में बड़ा अन्तर है।"[११]

---

८. गैस से आलोकित हो रहे ज्योति-वृक्ष से ब्रह्माण्ड की तुलना करते हुए उन्होंने कहा था – "उस एक पूर्ण ब्रह्म से ही इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है। एक ही जेनरेटर से आया हुआ गैस विभिन्न स्थानों पर पहुँचकर जलता हुआ प्रकाश उत्पन्न करता है; उसी प्रकार चेतना के रूप में एक ही ब्रह्म प्रत्येक प्राणी के भीतर विद्यमान है।" इस व्याख्या को सुनकर श्रीरामकृष्ण पुन: समाधि में डूब गये। (श्रीरामकृष्ण-चरित, पृ. ७९)

९. Remain Rolland: The Life of Ramakrishna, p. 163

१०. बिपिन चन्द्र पाल, सेंट बिजय कृष्ण गोस्वामी, पृ. १२ – "केशव के समान ही देवेन्द्रनाथ भी श्रीरामकृष्ण के समकालीन थे, परन्तु लगता है कि केशव के समान उनमें कभी श्रीरामकृष्ण के प्रति प्रशंसा का भाव नहीं रहा।"

११. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ५९९

निष्काम कर्म का उद्देश्य

धार्मिक अनुष्ठानों में लोगों को भोजन क्यों कराया जाता है? लोगों को खिलाना एक प्रकार से भगवान् की ही सेवा है। वे सब जीवों के भीतर अग्नि के रूप में विद्यमान हैं, अत: खिलाना यानी उन्हीं में आहुति चढ़ाना। परन्तु जो दुर्जन हैं, जो भगवान को नहीं मानते, जिन्होंने व्याभिचार आदि महापाप किये हैं, ऐसे लोगों को कभी नहीं खिलाना चाहिए। ऐसे पापी लोग जहाँ बैठकर भोजन करते हैं, उसके नीचे की सात हाथ तक की जमीन अपवित्र हो जाती है।... इसलिए भोजन या अन्य वस्तु का दान देते समय यह विचार करना चाहिए कि दान ग्रहण करनेवाला व्यक्ति कहीं दुर्जन या पापी तो नहीं है, कहीं वह उस दान का दुरुपयोग तो नहीं करेगा।

साधारणतया ऐसा नियम है कि जिन्होंने पूर्व जन्म में बहुत दान-धर्म किया है, वे इस जन्म में धनवान् पैदा होते हैं, परन्तु आखिर यह जगत् उनकी माया ही तो है! इस माया के राज्य में इतने व्यतिक्रम होते रहते हैं कि यह सब कौन समझ सकता है!

– *श्रीरामकृष्ण*

महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन का जीवन-दर्शन

नवीन दीक्षित

सन् १९०५ में बर्न (स्विट्जरलैंड) के स्विस पेटेंट ऑफिस में कार्य करते हुये एक छब्बीस वर्षीय युवक ने वहाँ के 'अन्नालेन डर फीजिक' नामक शोध-पत्रिका में भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित तीन शोधपत्र प्रकाशित किये। शोध-पत्रिका के इन लेखों के बारे में प्रख्यात वैज्ञानिक मैक्स बोर्न की टिप्पणी उल्लेखनीय है कि "समग्र वैज्ञानिक साहित्य के इतिहास में वह अंक सर्वाधिक उल्लेखनीय था, जिसमें आइंस्टीन के तीन शोधपत्र प्रकाशित हुये थे। प्रत्येक लेख का विषय दूसरे से भिन्न था और आज इनमें से प्रत्येक को ही अति विशिष्ट तथा सर्वथा मौलिक शोधपत्र का दर्जा प्राप्त है।" इन्हीं शोधपत्रों में से एक में सापेक्षिकता का युगान्तरकारी सुप्रसिद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया था।

प्रकृति के अन्तराल में छिपी हुई समरसता में आइंस्टीन की गहरी आस्था थी और उनका चिन्तन, अपने समग्र वैज्ञानिक जीवन के दौरान भौतिकी के एक ऐसे ही एकीकृत (अद्वैत) आधार को खोजने में लगा रहा। अपने इस लक्ष्य को पाने की दिशा में ही उन्होंने अपने कार्य का आरम्भ प्राचीन गतिकी के दो पृथक् सिद्धान्तों – गतिकी तथा विद्युत्-गतिकी को एक ही सामान्य संरचना में समाहित करके किया। यही नवीन सैद्धान्तिक संरचना 'सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धान्त' के रूप में प्रसिद्ध हुई। इसने प्राचीन सिद्धान्त को परिपूर्ण करने के साथ ही, देश तथा काल की धारणाओं में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। सापेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार देश, काल से स्वतंत्र केवल त्रि-आयामीय तत्त्व नहीं है। देश तथा काल – दोनों ही घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं और देश-काल का चार आयामी सातत्य बनाते हैं। न्यूटनवाद में जिस सार्वभौमिक काल-प्रवाह को स्वीकार किया गया है, वैसा कोई सार्वभौमिक काल नहीं है। किसी घटना के विभिन्न प्रेक्षक – विभिन्न वेगों से गतिशील हैं और उस घटना का विभिन्न कालों में विभिन्न रूप से अवलोकन करेंगे। ऐसी परिस्थिति में एक प्रेक्षक को समकालिक दिखने वाली दो घटनाएँ, दूसरे प्रेक्षक को इतनी समकालिक नहीं भी दिख सकती। इस प्रकार देश और काल को समाहित किये हुए सभी प्रेक्षणों ने अपना निरपेक्ष महत्त्व खो दिया। आइंस्टीन ने इसकी लोकप्रिय व्याख्या इस प्रकार की – यदि पृथ्वी पर मौजूद दो जुड़वा भाइयों में से एक को प्रकाश के वेग से चलनेवाले राकेट में बैठाकर अन्तरिक्ष की यात्रा पर भेजा जाय, तो वह छह मिनट में इतनी दूरी तय करके आ जायेगा, जितने समय में पृथ्वी पर स्थित उसका दूसरा भाई साठ साल का बूढ़ा हो जायेगा। तात्पर्य यह कि स्थान तथा समय परस्पर गुँथे हुये हैं, एक-दूसरे से स्वाधीन नहीं हैं।

किसी प्राकृतिक घटना की व्याख्या में देश और काल की धारणाएँ ही आधारभूत थीं और इनमें आनेवाले नवीन दृष्टिकोण ने प्रकृति की पूरी व्याख्या में ही फेर-बदल कर दिया। इस परिवर्तन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम इस युगान्तरकारी ज्ञान के रूप में मिला कि पदार्थ – ऊर्जा का ही एक भिन्न रूप है। एक स्थिर पिण्ड में भी उसके पदार्थ में ऊर्जा संरक्षित रहती है और ऊर्जा तथा पदार्थ के बीच के सम्बन्ध को प्रख्यात समीकरण $E = mc^2$ के रूप में व्यक्त किया गया, जहाँ E ऊर्जा को, m पदार्थ को और c प्रकाश के वेग को व्यक्त करते हैं। बाद में इसी सूत्र से अणुबम का विकास हुआ। यदि रेडियो-सक्रिय पदार्थ को सहसा विखण्डित करके ऊर्जा को मुक्त किया जाता है, तो उसे अणुबम कहते हैं और यदि इसे नियंत्रित रूप से मुक्त किया जाता है, तो इसे आण्विक ऊर्जा कहा जाता है, जिसका शान्तिपूर्ण तरीकों से मानव जाति के उपयोगी कार्यों में प्रयोग किया जाता है।

१९१५ ई. में आइंस्टीन ने 'विशिष्ट सापेक्षता सिद्धान्त' की ही कड़ी में अपने 'सामान्य सापेक्षता सिद्धान्त' को प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने विशाल पिण्डों के बीच क्रियाशील गुरुत्वाकर्षण-शक्ति को भी सम्मिलित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के कारण प्रकाश की किरणें कुछ मुड़ जाती हैं। तारों से उत्पन्न होनेवाली प्रकाश की किरणें जब सूर्य के पास से होकर गुजरते हुए पृथ्वी पर स्थित दूरबीनों में पहुँचती हैं, तो उन पर सूर्य के गुरुत्वाकर्षण का जो प्रभाव अपेक्षित है, उन्होंने उसकी गणना की थी। यद्यपि यह प्रभाव अति अल्प था, परन्तु इसका सूर्य-ग्रहण के दौरान सत्यापन किया जा सकता था। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने के कारण इस सत्यापन का कार्य टल गया और इसमें काफी विलम्ब हुआ। बाद में १९१९ ई. में ऑर्थर एडिंग्टन ने सूर्य-ग्रहण के दौरान वैज्ञानिक निरीक्षण के द्वारा आइंस्टीन के पूर्वानुमानों को सत्य सिद्ध कर दिया।

हमारी इस कथा के नायक अल्बर्ट आइंस्टीन ने अभी अपने जीवन के तीस वर्ष भी पूरे नहीं किये थे और बर्न के स्विस पेटेंट ऑफिस में ही क्लर्क के रूप में कार्य कर रहे थे, उसी दौरान उपर्युक्त खोजें आरम्भ होकर काफी हद तक पूरी भी हो चुकी थीं। एक इतने प्रतिभाशाली वैज्ञानिक को क्लर्क की नौकरी क्यों करनी पड़ी – यह जानने के लिये हमें आइंस्टीन के बचपन और तरुणाई से होते हुए, उनकी

युवावस्था के दिनों में भी झाँकना होगा।

अल्बर्ट आइंस्टीन का जन्म १४ मार्च १८७९ को जर्मनी के स्वाबिया प्रान्त के उल्म नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता हरमन एक हँसमुख और आशावादी व्यक्ति थे। माँ वायलिन अच्छा बजा लेती थीं और उन्होंने अपने बेटे को भी उसकी काफी धुनें सिखा दी थीं। पिता हरमन अपनी व्यावसायिक असफलताओं के कारण कुछ हताश-से हो गये थे और इन असफलताओं के कारण ही उनके परिवार को म्यूनिख (जर्मनी) से मिलान (इटली) आना पड़ा था। इन सभी अस्थिरताओं से आइंस्टीन की स्कूली शिक्षा भी प्रभावित हुई। पहले उन्होंने पॉलीटेक्निक स्कूल में प्रवेश लेने का प्रयास किया, परन्तु वे इसकी प्रवेश-परीक्षा में असफल हुए। इसके बाद इसकी दुबारा तैयारी के लिये उन्होंने अराऊ के स्कूल में दाखिला लिया और सत्रह वर्ष की आयु में अन्तत: उन्हें ज्यूरिख (स्विटरजरलैंड) में पॉलीटेक्निक संस्थान में प्रवेश पा लिया।

इस दैरान उनके पिता को पुन: व्यावसायिक झटका लगा और इससे आइंस्टीन के आर्थिक साधन सीमित हो गये। कई बार उन्हें भरपेट भोजन तक नहीं मिल पाता था। ऐसी दुखद स्थिति के बीच भी उनकी भविष्य के प्रति अन्तर्दृष्टि में जरा भी मन्दता नहीं आई। इन्हीं दिनों उन्होंने अपने एक मित्र के नाम एक पत्र में लिखा – "कठोर परिश्रम और प्रकृति को समझने की जिज्ञासा – ये ही ऐसे दो देवदूत हैं, जो मुझे सम्बल तथा उत्साह प्रदान करते रहते हैं। जीवन के कोलाहल के बीच ये दोनों प्रेरक शक्तियाँ ही मुझे निरन्तर रास्ता दिखाती रहेंगी।" स्कूल में वे अपने पाठ्यक्रम के प्रति उदासीन थे, कक्षा के बाहर जाने पर वे बड़ी उन्मुक्तता के साथ उन्नीसवीं शताब्दी के महान् सैद्धान्तिक भौतिक-वैज्ञानिकों की किताबें पढ़ा करते थे। बाद में परीक्षा की तैयारी के लिये वे अपने मित्र मार्शल ग्रॉसमन के प्रति ऋणी रहे, क्योंकि ग्रॉसमन को व्याख्यान के दौरान टिप्पणियाँ लेने में महारत हासिल थी। परीक्षा के दबाव तथा इसके विद्यार्थी के ऊपर पड़नेवाले प्रतिकूल प्रभाव और बोझिल शिक्षा-प्रणाली के विषय में उन्होंने बाद में लिखा – "यह किसी चमत्कार से कम नहीं कि आधुनिक शिक्षा-पद्धति ने अभी तक छात्रों की अनुसन्धानात्मक जिज्ञासा का पूर्ण रूप से गला नहीं घोटा है। छात्र-रूपी इस छोटे से पौधे को फूलने-फलने के लिये उत्तेजना की नहीं, वरन् स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है।"

१९०० ई. तक वे स्नातक हो गये। लगभग इसी काल-खण्ड में उनका पहला शोधपत्र प्रकाशित हुआ और उन्होंने स्विट्जरलैंड की नागरिकता प्राप्त कर ली। अब वह नौकरी की तलाश में निकल पड़े। पहले तो उन्होंने ऊँची नौकरी प्राप्त करने की कोशिश की, किन्तु अपेक्षाकृत कम प्रतिष्ठित ज्यूरिख पॉलीटेक्निक संस्थान से स्नातक होने के बाद ऐसी नौकरी प्राप्त होने की सम्भावना कम ही थी। अत: दो जगह अस्थायी रूप से अध्यापन का कार्य करने के बाद वे अपने मित्र मार्शल ग्रॉसमन के पिता की मदद से १९०२ ई. में बर्न के पेटेंट कार्यालय में क्लर्क के रूप में नियुक्त हो गये। रोजगार मिल जाने के बाद अब उन्होंने अपनी सहपाठी – मिलिवा मैरिक से विवाह कर लिया। मिलिवा थोड़ी छोटे कद की, परन्तु देखने में सुन्दर थी और बचपन में ही टी.वी. की शिकार हो जाने के कारण थोड़ा लँगड़ाकर चलती थीं। यह सम्बन्ध, कई दृष्टियों से विवाह कम और समझौता ही अधिक था। इसे सफल बनाने में आइंस्टीन की बौद्धिक और भावनात्मक काफी शक्ति नष्ट हुई।

पेटेंट ऑफिस में क्लर्की का काम कोई बौद्धिक कार्य नहीं था और उससे आइंस्टीन की बहुत-सी बौद्धिक शक्ति बच जाती थी। इस शक्ति और समय का सदुपयोग वे अपने वैज्ञानिक शोध कार्य में करते थे। कागज के छोटे-छोटे टुकड़ों पर वे शोध-कार्य की टिप्पणियाँ लिख लेते और दफ्तर के किसी आदमी के आ जाने पर, उस कागज के टुकड़े को फौरन मेज की दराज में छिपा लेते थे। इसी दराज में सापेक्षतावाद का वह अभिनव सिद्धान्त अपने अनगढ़ रूप में छिपा रहता था, जिसके विषय में प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल ने कहा है – "हजार वर्षों की मानव सभ्यता में इसके समान कोई विरला विचार मानवीय मेधा में प्रकट होता है।"

आइंस्टीन ने बर्न के पेटेंट ऑफिस में अपने सात वर्षों के कार्यकाल में जो वैज्ञानिक कार्य किया, वह वैज्ञानिक रचनात्मकता के मापदण्डों के हिसाब से सर्वथा अद्वितीय था। इसे जल्दी ही मान्यता मिल गई और पाँच वर्षों के भीतर ही वे वैज्ञानिक तथा अकादमिक जगत् में शीर्ष पर पहुँच गये। १९०९ ई. में ज्यूरिख विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। इस अध्यापन कार्य के दौरान वे अपना ढीला-ढाला छोटा-सा पतलून पहने अपने साथ विजिटिंग कार्ड के आकार के कागज के टुकड़े पर अपने व्याख्यान की टिप्पणियाँ लिखकर ले आते थे। छात्रों के समक्ष अपने विचार अभिव्यक्त करके वे खुश होते थे, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति अत्यन्त गूढ़ होती थी, क्योंकि उनका अपना विचार का तरीका अन्त:स्फूर्त और अनौपचारिक था। अपनी रुचि के प्रतिकूल विषयों को पाठ्यक्रम और परीक्षा की दृष्टि से प्रस्तुत करने में उन्हें विशेष कठिनाई होती थी। इस प्रकार व्याख्यानों की तैयारी से उनके अपने मौलिक चिन्तन में भी बाधा उत्पन्न होती थी।

इन्हीं वर्षों में वे ज्यूरिख से प्राग गये और फिर दुबारा ज्यूरिक में ही प्राध्यापक के पद पर लौटे। क्वांटम-भौतिकी के प्रणेता मैक्स प्लैंक ने १९१३ ई. में उन्हें बर्लिन विश्वविद्यालय (जर्मनी) में नियुक्ति का प्रस्ताव दिया। वहाँ अध्यापन-कार्य की कोई बाध्यता नहीं थी और प्रस्ताव भी बड़ा आकर्षक था,

अत: उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। मैक्स प्लैंक ने प्रुसियन शिक्षा मंत्रालय को आइंस्टीन की नियुक्ति के समर्थन में उनके द्वारा सम्पन्न कार्य के महत्त्व का दिग्दर्शन कराते हुये एक पत्र लिखा। इस पत्र के द्वारा १९१३ ई. तक आइंस्टीन को प्राप्त हो चुकी प्रतिष्ठा का अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने लिखा था – "आइंस्टीन द्वारा प्रस्तुत 'काल की परिकल्पना' की व्याख्या ने पुरानी भौतिकी को पूर्णतया नया आयाम दिया है। उसमें भी गति-विज्ञान और विज्ञान की ज्ञान-मीमांसा विशेष रूप से प्रभावित हुई है। उनके विचारों के प्रयोग आज के अनुसन्धान के सबसे ज्वलन्त बिन्दु हैं। आण्विक ऊर्जा और आण्विक सक्रियता के क्वांटम सिद्धान्त का महत्त्व बताने वाले ये प्रथम व्यक्ति हैं। उन्होंने क्वांटम-सिद्धान्त को फोटो-विद्युत और फोटो-रासायनिक प्रभाव के साथ जोड़ा। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आज की भौतिकी की कोई भी ऐसी महान समस्या नहीं है, जिसमें आइंस्टीन ने अपना सर्वोत्कृष्ट योगदान न दिया हो। विरले ही उनसे कोई गलती हुई है, परन्तु इससे उनका योगदान कम नहीं हो जाता। शोधों में जोखिम तो होता ही है। इस समय वे गुरुत्वाकर्षण के एक नवीन सिद्धान्त पर कार्य कर रहे हैं।"

इधर अपनी पत्नी से उनके सम्बन्ध लगातार बिगड़ते जा रहे थे। बर्लिन जाने के तुरन्त बाद मिलिवा ज्यूरिख लौट आईं और फिर वापस नहीं लौटी। १९१९ में उनका तलाक हो गया। आइंस्टीन का छोटा लड़का एडवर्ड अपने करीब पूरे जीवन भर मानसिक रोगी बना रहा और ज्यूरिख के मनोरोगियों के अस्पताल में ही उसकी मौत हो गई। १९१७ ई. में, जब आइंस्टीन गम्भीर रूप से बीमार हुए, तब एल्सा लोवेन्थॉल नामक महिला ने बड़े स्नेहपूर्वक उनकी देखभाल की। १९१९ ई. में दोनों का विवाह सम्पन्न हो गया।

१९२० ई. तक उनकी प्रसिद्धि अपने चरम पर पहुँच चुकी थी। प्रसिद्धि के मामले में मैडम मेरी क्यूरी को छोड़कर २०वीं सदी का कोई अन्य वैज्ञानिक उनकी बराबरी नहीं कर सका। समाज के सभी वर्गों के लोगों से उनका गहरा सम्पर्क स्थापित हुआ। डाकिया प्रतिदिन बण्डल भर पत्र लाता, जिसमें कई तरह के प्रश्न, आमंत्रण तथा सैद्धान्तिक चुनौतियाँ भी होती थीं। १९२० ई. के बाद आइंस्टीन विश्व राजनीति का हिस्सा बन गये। उन्होंने काफी यात्रायें की और सार्वजनिक कार्यक्रमों में भाग लिया। जर्मनी में यहूदी-विरोधी वातावरण बढ़ता जा रहा था। यद्यपि उनके नीजी जीवन पर यहूदी धर्म का कोई प्रभाव नहीं था, परन्तु यहूदी-विरोधी भावनाओं का शिकार बनने से उनके अन्दर स्वयमेव ही यहूदी चेतना जाग उठी थी। उन्होंने यहूदियों की सभाओं में भाग लेकर अपनी इस चेतना का प्रमाण भी दिया। इजरायल की राजनीति में भी उन्होंने रुचि ली। बाद में झंझट बढ़ जाने पर १९२२ ई. में वे चीन, जापान तथा स्पेन की लम्बी यात्रा पर निकल गये। इसके पहले ही – १९२१ ई. में उन्हें प्रकाश के क्वांटम सिद्धान्त के लिये नोबल पुरस्कार प्राप्त हो चुका था।

उनके समालोचक यह मानते हैं कि १९२० तथा उसके बाद के बहिर्मुखी आइंस्टीन की तुलना में पेटेंट ऑफिस और १९२० तक के अंतर्मुखी आइंस्टीन ने कहीं अधिक रचनात्मक वैज्ञानिक कार्य किये थे। १९३० तथा ३० के दशक के बाद का उनका कार्य रचनात्मक कम, और खण्डनात्मक ही अधिक रहा। इसका प्रमुख कारण था १९२५ ई. के करीब 'क्वांटम-यांत्रिकी' के सिद्धान्त का प्रकाश में आना और सैद्धान्तिक भौतिकी में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेना। आइंस्टीन ने क्वांटम यांत्रिकी की उपयोगिता को तो तुरन्त स्वीकार कर लिया, किन्तु इसकी व्याख्या को लेकर वे अन्त तक बहस करते रहे। अधिकांश भौतिकविदों ने हाइजेनबर्ग के 'अनिश्चितता के सिद्धान्त' को स्वीकार कर लिया, किन्तु वे इसे स्वीकार नहीं कर सके। इस सिद्धान्त के तथ्यों की प्रचलित व्याख्या के विरोध में उन्होंने एक बहुत प्रसिद्ध और मार्मिक बात कही – "ईश्वर दुनिया के साथ जुआ नहीं खेलता।" नई पीढ़ी के क्वांटम वैज्ञानिकों ने इस नवीन प्रविधि का खूब दोहन किया, किन्तु आइंस्टीन पुराने 'कारणता के सिद्धान्त' पर अड़े रहे। उन्होंने परम्परागत भौतिकी की कुछ महान् मान्यताओं को क्षणिक सफलताओं से अधिक महत्त्व देते हुए, क्वांटम सिद्धान्त की अपूर्णता का अनुभव करते हुये उसके परे भी देखने की कोशिश की। यह अलग बात है कि उनको अपना यह लक्ष्य कभी मिला नहीं।

१९२० ई. से ही उन्होंने अपने 'एकीकृत क्षेत्र सिद्धान्त' पर कार्य आरम्भ कर दिया था। इसमें उन्होंने गुरुत्वाकर्षण, विद्युत-चुम्बकत्व तथा क्वांटा के सिद्धान्तों को एक ही बृहत् सिद्धान्त में समाहित करने का प्रयास किया। अपने पूरे जीवन भर वह इस विचार के प्रति दीवानेपन से जुटे रहे। इस सिद्धान्त की गणितीय दुविधाएँ उनको परेशान करती रहीं। इस प्रयास में वे बार-बार असफल हुए, परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और उनके मुख से एक बड़ा ही मार्मिक तथा प्रसिद्ध उद्‌गार प्रकट हुआ – "ईश्वर सूक्ष्म है, परन्तु कुटिल नहीं।" इससे उनका अभिप्राय था कि प्रकृति अपने सहज वैभव से अपने रहस्य को छिपा लेती है, लेकिन ऐसा करने से वह कुटिल नहीं हो जाती। एकीकृत-क्षेत्र-सिद्धान्त को विकसित करने में व्यर्थ ही कई वर्ष खर्च करने के बाद उन्होंने क्षोभवश अनौपचारिक रूप से कहा – "कौन जाने, शायद वह (ईश्वर) थोड़ा कुटिल भी हो।" आइंस्टीन के जीवन-काल में क्वांटम प्रविधि की सफलता की चकाचौंध में

आइंस्टीन के इस सिद्धान्त के विकास में वैज्ञानिकों ने सहयोग नहीं दिया, परन्तु आज की भौतिकी में फ्रिटजॉफ काप्रा, रोजर पेनरोस, स्टीफन हॉकिंग तथा अन्य अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक उनके इस विचारों को अपनाने के लिये प्रवृत्त हुए हैं। वैसे उपर्युक्त मौलिक भौतिक ऊर्जाओं को एक ही व्यापक सिद्धान्त में समाहित करने की चेष्टा में अभी तक सफलता नहीं मिल सकी है।

आइंस्टीन की रचनात्मक चेतना इतनी सुदृढ़ थी कि उनके चित्त में निराशा कभी स्थायी रूप से नहीं रह पाती थी। वे किसी भी परिकल्पना में महीनों और सालों तक पूरे उत्साह के साथ तल्लीन रहा करते थे, किन्तु जब उस परिकल्पना में दोष दिखायी देने लगते, जैसा कि अन्त में अक्सर होता था, तो वे इसमें व्यर्थ गये समय तथा श्रम के बावजूद, बिना किसी निराशा के – उसे क्षण भर में ही त्याग देते थे। अगली सुबह या कुछ दिन बाद ही वे उसी उत्साह के साथ किसी नये विचार पर कार्य करने लगते। आइंस्टीन ने इसी भावना से एक मित्र को लिखा था – "निराश रहने से कहीं बेहतर है, किसी अप्राप्य लक्ष्य की प्राप्ति हेतु संघर्ष करना।"

१९२० के दशक में ही जर्मनी में नाजी प्रभावशाली हो गये थे और अपने साथ राष्ट्रवाद, सैन्यवाद और यहूदी-विरोध जैसे तीन शैतानी विचार ले आये थे। इससे उनके वैज्ञानिक कार्य पर प्रतिकूल असर पड़ा। आइंस्टीन को सैन्यवाद और राष्ट्रवाद के विचारों से अरुचि थी। महात्मा गाँधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन जैसे अहिंसक कार्यक्रमों में उनको भविष्य के लिये आशा दिखाई देती थी। वे अपने शान्तिवादी और विश्व-संसद जैसे राजनैतिक विचारों के कारण पहले से ही उग्र जर्मनों की आँख की किरकिरी बने हुये थे। तभी १९३२ ई. में आइंस्टीन को अमेरिका के प्रिंसटन संस्थान में काम करने का निमंत्रण मिला। इस निमंत्रण को स्वीकार करने के बाद उन्होंने अमरीकी नागरिकता भी ले ली। द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने के पूर्व उनको यह ज्ञात हुआ कि जर्मन वैज्ञानिक अणुबम बनाने में लगे हुये हैं। तब हिटलर को रोकने के लिये अमरीका द्वारा भी अणुबम बनाने की दिशा में परियोजना आरम्भ करने के लिये उन्होंने राष्ट्रपति रूजवेल्ट को एक ऐतिहासिक पत्र लिखा। इसी का परिणाम 'मेनहाट्टन परियोजना' थी, जिसमें अमरीकियों ने जर्मनी से पहले ही एटम बम बना लिया और १९४५ के अगस्त में जापान के दो शहरों – हिरोशिमा तथा नागासाकी पर उसका प्रयोग भी कर डाला।

इससे हुए विनाश से आइंस्टीन बहुत दुखी और विचलित हो गये। समझा जाता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध की तबाही में विज्ञान की ताण्डवकारी भूमिका को समझकर ही उन्होंने विश्व -शान्ति की स्थापना के लिये विज्ञान और धर्म के समन्वय पर जोर देना आरम्भ कर दिया था। तभी उनकी यह उक्ति मुखरित हुई – "विज्ञान के बिना धर्म अन्धा है; और धर्म के बिना विज्ञान लँगड़ा है।" वे अपने मौलिक किस्म के धार्मिक व्यक्ति थे। ईश्वर के विषय में उन्होंने लिखा – "जो कोई भी गम्भीरतापूर्वक वैज्ञानिक शोध के कार्य में लीन है, वह यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि ब्रह्माण्ड के नियमों के भीतर एक चेतना का साक्षात्कार होता है। मानव की चेतना से कहीं अधिक महान् उस चेतना के सम्मुख हमें अपनी क्षुद्र शक्तियों के साथ विनयशीलता का अनुभव करना चाहिये।"

उनके मुख्य जीवनीकार अब्राहम पाइस ने उनके निधन के तीन माह पूर्व १९५५ ई. में उनसे भेंट की। पाइस उनके कमरे के दरवाजे पर जाकर दरवाजा खटखटाते हैं। अन्दर से मृदु स्वर में – 'आ जाओ' का जवाब आता है। उन्होंने लिखा है – "जैसे ही मैं अन्दर गया, मैंने क्या देखा ! वे तो अपनी कुर्सी पर कम्बल ओढ़े बैठे हुये हैं। गोद में एक नोटबुक है। कार्य में तल्लीन हैं। सहसा उन्होंने अपनी नोटबुक एक ओर रख दी और मेरा अभिवादन किया। हमने एक साथ आधे घण्टे का सुखद समय व्यतीत किया। इसके बाद मैंने कहा कि अब मुझे और अधिक नहीं रुकना चाहिये। हमने हाथ मिलाये और एक-दूसरे को अलविदा कहा।

"मैं कमरे के दरवाजे तक गया और चार-पाँच कदम जाने के बाद मैंने पुन: लौटकर जब दरवाजा खोला तो क्या देखा – वे पुन: कुर्सी पर बैठे हुये थे और उनकी गोद में नोटबुक और हाथ में पेंसिल थी। बाह्य परिवेश से पूर्णत: अनभिज्ञ वे पुन: कार्य में लीन हो गये थे।"

तो ऐसे थे महान आइंस्टीन ! अपने कार्य में पूर्णत: निमग्न किन्तु मानवता के दु:ख-दर्द से बेखबर नहीं। अपने सैद्धान्तिक विचारों पर अडिग किन्तु व्यावहारिक जीवन में उदार ! विचारों में दुर्बोध, किन्तु फिर भी सरल और सर्वसुलभ।

❑❑❑

स्वामी विरजानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

"परन्तु मैं क्या जानता हूँ, जो बोलूँगा?"

गम्भीर स्वर में उत्तर मिला – "ठीक है, खड़े होकर यही कहना कि मैं कुछ नहीं जानता। 'मैं कुछ नहीं जानता' – यही कहना तो एक बहुत बड़ी शिक्षा है। 'मैं सब कुछ जानता हूँ' – यही भाव अज्ञान है।"

तब भी तरुण शिष्य के मन में गुरु का निर्देश मानने के लिये दृढ़ता नहीं आ रही थी।

आचार्य ने आगे कहा – "देख, यदि तू अपनी मुक्ति के लिये चेष्टा करेगा, तो निश्चित रूप से जहन्नुम में जायेगा; और यदि दूसरों की मुक्ति के लिये कार्य करेगा, तो तत्काल मुक्त हो जायेगा।"

अब शिष्य के सारे भय तथा संशय दूर हो चुके थे। उसने – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** – अपनी मुक्ति तथा विश्व के कल्याणार्थ अपना जीवन बलिदान कर देने का संकल्प कर लिया। ब्रह्मविद् गुरु की विद्युत्-वाणी रक्त-प्रवाह की भाँति नये वेग के साथ उनके शरीर के नस-नस में प्रवाहित होने लगी। शिष्य का सम्पूर्ण परवर्ती जीवन श्रीगुरु के कण्ठ से उच्चरित इसी सन्देश के साकार विग्रह के रूप में प्रस्फुटित हो उठा था। इसीलिये लोकगुरु स्वामी विवेकानन्द के संन्यासी शिष्य स्वामी विरजानन्द का वैराग्य-दीप्त जीवन, त्याग और सेवा के इतिहास में एक अविस्मरणीय प्रेरणा-दीप – तपस्या एवं कर्म का एक अपूर्व समन्वयादर्श हो उठा था। पिछली शताब्दी के पूर्वार्ध में जिन महापुरुषों ने अपने योग-भक्ति-ज्ञान तथा कर्ममय जीवन के सामंजस्यपूर्ण विकास द्वारा सनातन धर्म-संस्कृति को समृद्ध किया था, उनमें विवेकानन्द-शिष्य विरजानन्द का नाम विशेष रूप से स्मरणीय रहेगा।

संन्यासी होने के पूर्व स्वामी विरजानन्द का नाम कालीकृष्ण बोस था। उनके पिता त्रैलोक्य नाथ बोस तत्कालीन कोलकाता के एक प्रसिद्ध चिकित्सक थे। उनका पैतृक आवास चौबीस परगना जिले के कोदालिया ग्राम में था। कालीकृष्ण के पितामह रामरतन बोस काम के सिलसिले में कोलकाता आये और वहाँ सिमला मुहल्ले में मकान बनवाकर वहीं निवास करने लगे। इसी सिमला अंचल में स्वामी विवेकानन्द के भी पूर्वाश्रम का पैतृक मकान था। स्वामीजी अपने बचपन में इन रामरतन बोस के घर में खेलने जाया करते थे। कालीकृष्ण के चाचा अमृतलाल बोस स्वामीजी के सहपाठी थे। स्वामीजी के बचपन की शैतानियों में से एक यह था कि वे अपने संगियों के साथ उस घर के आंगन में स्थित चम्पा के पेड़ पर चढ़कर उस पर झूलते रहते। कहीं कोई दुर्घटना न हो जाय, इस भय से उस घर के एक वृद्ध यह कहकर उन चंचल बालकों को डराने की कोशिश किया करते, "चम्पा के पेड़ पर ब्रह्मदैत्य रहता है; उस पर मत चढ़ना, नहीं तो वह तुम्हारी गरदन मरोड़ देगा।" इसके फलस्वरूप अन्य बालकों को डरते देखकर नरेन ने कहा था, "अरे, बूढ़े बाबा की बात क्यों सुनते हो? यदि इस पर ब्रह्मदैत्य होता, तो वह कब का हम लोगों की गरदन मरोड़ चुका होता।" इस घटना में कथित वृद्ध कालीकृष्ण के ही दादा रामरतन थे।

त्रैलोक्य जब मेडिकल कॉलेज में पढ़ रहे थे, तभी रामरतन ने उनका विवाह कर दिया था। बहू निषादकाली देवी के आगमन के साथ ही विधुर रामरतन के घर में आनन्द और समृद्धि भी आयी। बहू के पिता विनोदविहारी मित्र बड़े ही साधु-स्वभाव के व्यक्ति थे। उनके शान्त तथा संयमित जीवन ने कालीकृष्ण को काफी प्रभावित किया था। वे प्राय: कहा करते, "मैं अपनी माँ के परिवार से काफी प्रभावित हुआ था। मेरे नाना एक अद्‌भुत व्यक्ति थे। मैंने शायद ही कभी उनके जैसा व्यावहारिक आदमी देखा हो।"

१० जून १८७३ ई. को, जगन्नाथजी की स्नान-यात्रा के दिन सुबह ८ बजे त्रैलोक्यनाथ के प्रथम पुत्र का जन्म हुआ। जातक के दादा रामरतन आनन्द में 'काली'-'काली' कह उठे। उन्होंने प्रार्थना की – "हे जगदम्बा, ऐसा करना कि यह दीर्घजीवी हो और इसके द्वारा कुल की महिमा बढ़े।" बालक के मामा विनोदविहारी ने भी अपने इष्टदेव को स्मरण करते हुए कहा – "हे कृष्ण नारायण हरि, वह मनुष्य के समान मनुष्य बने, भक्त हो।" उसे देखकर दादा और मामा दोनों को ही अपने-अपने इष्टदेव की याद आये, इसीलिये उसका नाम हुआ – कालीकृष्ण।

जन्म के बाद ही नवजात शिशु में कई विचित्रताएँ देखने को मिली थीं। शिशु अपनी माँ के स्तन में मुख नहीं लगाता था और रात में उसे नींद नहीं आती थी। नींद लाने का प्रयास करते ही वह रोने लगता। शिशु दिन के समय सोता और

सारी रात किसी-न-किसी की गोद में चढ़कर आकाश में चाँद देखना चाहता। इस कारण घर के लोगों को बारी-बारी से रात भर जागना पड़ता था। शिशु के दादाजी ने उसके दूध पीने के लिये एक दुधारू गाय खरीद लिया।

बालक के जन्म के बाद से परिवार में विविध प्रकार से समृद्धि के लक्षण दिखने लगे। त्रैलोक्यनाथ महिषादल रियासत के राज-चिकित्सक नियुक्त होकर धन तथा नाम अर्जित करने लगे। बाद में वे यह कार्य छोड़कर कलकत्ते में स्वाधीन रूप से चिकित्सक का कार्य करने लगे। कुछ काल तक वे श्री केशव चन्द्र सेन के पारिवारिक चिकित्सक भी रहे और वहीं उन्होंने सम्भवत: श्रीरामकृष्ण का दर्शन भी किया था।

कालीकृष्ण की माता निषादकाली देवी परम भक्तिमती तथा धर्म-परायणा थीं। उनके कुछ चारित्रिक विशेषताओं ने उनके पुत्र के जीवन को भी गहराई से प्रभावित किया था। परवर्ती काल में पुत्र के मुख से सुना गया था – "माँ के साथ सर्वदा ही मेरा बड़ा लगाव था।" निषादकाली देवी का एक विशेष गुण यह था कि घर के सारे कार्य करते हुए भी उनके भीतर अद्भुत अनासक्ति का भाव था। इसीलिये पुत्र ने बड़े हो जाने के बाद जब उनके समक्ष त्याग की इच्छा व्यक्त की, तो उन्होंने उसे प्रोत्साहित ही किया था। वैराग्य-पथ के यात्री पुत्र को उन्होंने पीछे खींचने की चेष्टा नहीं की। बल्कि वे बोलीं – "मैं क्यों तुम्हारे धर्मपथ में बाधक होऊँगी, बेटा? मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।" इस मायामय संसार में ऐसी माताएँ भला कितनी मिलेंगी? पति के देहावसान के बाद निषादकाली देवी भी गृहस्थी से पूरी तौर से अलग होकर वृन्दावन-धाम चली गयी थीं और वहीं अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक साधन-भजन करती रहीं। १९४२ ई. में लगभग ८५ वर्ष की आयु में इन धर्मप्राण महिला ने देहत्याग किया।

कालीकृष्ण की प्राथमिक शिक्षा उनके पिता के मित्र हेमबाबू के ट्रेनिंग अकादमी में हुई थी। उन्होंने वहाँ पर छठवीं तक की शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद वे रिपन स्कूल के छात्र हो गये और वहीं से १८९० ई. में वे मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसी दौरान उनके पिता ने कलकत्ते के ही नारिकेलडांगा अंचल में मकान बनवा लिया था। कालीकृष्ण एक बड़े ही परिश्रमी छात्र थे, परन्तु उनकी शिक्षा केवल विद्यालय की चहारदीवारी तक ही सीमित न थी – उसकी परिधि में चारों ओर विस्तार होता जा रहा था। वे अति अल्प आयु में ही अनेक प्रकार के हाथ के काम, शिल्पकला, रसोई, उद्यानिकी आदि में निपुण हो गये थे। परवर्ती काल में प्रसंग उठने पर वे कभी-कभी कहा करते – "मैं सर्वदा ही बड़ा व्यावहारिक था – जब जिस कार्य को पकड़ता, उसे करके ही छोड़ता।" कालीकृष्ण का एक स्वाभाविक गुण था अत्यन्त शिष्ट तथा मधुर व्यवहार – इस कारण उनके सहपाठी सहज भाव से ही उनके प्रति प्रेम रखते थे।

किशोरावस्था पार करते-करते कालीकृष्ण के हृदय में सोये हुए धर्म-जिज्ञासा के संस्कार क्रमश: प्रस्फुटित होकर उनके मन-बुद्धि में घोर हचलच की सृष्टि करने लगे। जब वे विद्यालय की नवीं कक्षा में पढ़ रहे थे, तभी खगेन्द्र चट्टोपाध्याय नामक एक अत्यन्त तेजस्वी तथा प्रतिभाशाली सहपाठी के संग ने कालीकृष्ण के जीवन को काफी प्रभावित किया था। परवर्ती काल में ये खगेन्द्रनाथ ही स्वामीजी के संन्यासी शिष्यों में एक – स्वामी विमलानन्द हुए। क्रमश: कालीकृष्ण तथा उनके समान भाव रखनेवाले सहपाठियों की एक टोली गठित हो गयी। इन सभी ने विद्यालय की पढ़ाई पूरी करने के बाद कॉलेज में प्रवेश लिया। तरुणों की इस टोली ने आगे चलकर रामकृष्ण मठ तथा मिशन के इतिहास में एक अविस्मरणीय अध्याय की रचना की। इस टोली के ही सुधीर चक्रवर्ती, सुशील चक्रवर्ती, हरिपद चैटर्जी, गोविन्द शुकुल – बाद में क्रमश: स्वामी शुद्धानन्द, स्वामी प्रकाशानन्द, स्वामी बोधानन्द तथा स्वामी आत्मानन्द के नाम से श्रीरामकृष्ण संघ के उज्ज्वल नक्षत्र हुए थे। सुधीर सिटी कॉलेज में पढ़ते थे और बाकी सभी रिपन कॉलेज के छात्र थे।

युवकों की टोली की कठोर नीति-परायणता, आदर्श-निष्ठा तथा सदाचार सर्वदा छात्र-समुदाय के लिये दृष्टान्त बना रहेगा। वे लोग एक साथ मिलकर सच्चर्चा, धर्मग्रन्थों का पाठ तथा ध्यान-चिन्तन आदि की सहायता से अपने चरित्र-गठन का प्रयास कर रहे थे। खगेन का पटलडांगा का मकान ही इन लोगों का प्रमुख अड्डा था। ये लोग विभिन्न प्रकार के सन्तों-साधकों के पास भी आते-जाते रहते थे। किसी धर्मसभा या कीर्तन आदि की सूचना मिलने पर भी ये लोग वहाँ जा पहुँचते थे। कलकत्ते में उन दिनों महिम चक्रवर्ती की साधन-भजन-प्रणाली बड़ी लोकप्रिय हो रही थी। ये पहले श्रीरामकृष्ण के भी सम्पर्क में आये थे। युवकों के बीच उनके दल का बड़ा नाम था। खगेन के प्रोत्साहन पर कालीकृष्ण, सुधीर आदि युवकों ने भी कुछ दिन वहाँ आवागमन किया। उपदेश पाने हेतु वे अन्य धर्म-नेताओं के पास भी जाया करते थे। इसी प्रकार उन लोगों की आध्यात्मिक जीवन की तैयारी का पर्व चल रहा था।

इसी बीच पिता के नीजी ग्रन्थालय के कुछ ग्रन्थों की ओर कालीकृष्ण का ध्यान आकृष्ट हुआ। उनमें – महात्मा रामचन्द्र दत्त लिखित 'श्रीरामकृष्णदेव का जीवन-वृत्तान्त', 'तत्त्व-प्रकाशिका' और सुरेशचन्द्र दत्त द्वारा संकलित 'श्रीरामकृष्ण-उपदेश' भी था। इन ग्रन्थों को पढ़कर वे श्रीरामकृष्ण की ओर आकृष्ट हुए। वे उन उपदेशों के अनुसार निर्जन स्थान में अकेले बैठकर ध्यान-धारणा की साधनाएँ करने लगे। कालीकृष्ण

अपने कमरे का द्वार बन्द कर लेते और अपना अधिकांश समय पूजा-प्रार्थना तथा आराधना में ही बिताते। भजन तथा भक्तिमूलक गीत गाते हुए वे भाव-विभोर हो जाते।

खगेन तथा कालीकृष्ण के मन में सहसा वैराग्य का भयंकर तूफान उठा। दोनों मित्रों ने मिलकर निश्चय किया कि वे घर छोड़कर निकल जायेंगे और किसी पर्वत-गुफा में रहकर ईश्वर का चिन्तन करते हुए जीवन बिता देंगे – जीवन-धारण मात्र के लिये भिक्षा करेंगे। 'चैतन्य-लीला' नाटक देखने के बाद त्याग की उनकी इच्छा और भी बलवती हो उठी। गृहत्याग के लिये निर्दिष्ट दिनांक के पूर्व की रात को कालीकृष्ण खगेन के घर चले आये। पहले से निर्धारित किया हुआ था कि वहीं से गहरी रात के समय सबसे अज्ञात रखकर यात्रा आरम्भ होगी। उनके पड़ोसी नन्दबाबू विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य तथा साधन-भजन-शील थे, इस कारण खगेन उन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। रात के समय नन्दबाबू सहसा खगेन के घर आकर उन्हें पुकारने लगे। नन्दबाबू बोले – "तुम दोनों संसार त्याग करके निकलने वाले हो। मुझे दर्शन मिला है कि इससे तुम लोगों का अमंगल होगा।" नन्दबाबू एक साधक थे, अत: युवकों ने उनकी बात पर विश्वास कर लिया। वैराग्य लेने का संकल्प कुछ काल के लिये स्थगित कर दिया गया। कालीकृष्ण घर लौट आये। उन दिनों उनका घर नारिकेलडांगा में था। त्रैलोक्यनाथ ने निवास की सुविधा की दृष्टि से वहाँ एक नया मकान बनवाया था।

इसी प्रकार उनकी जीवन-नौका बही चली जा रही थी – कभी प्रवाह के साथ, तो कभी उसकी विपरीत दिशा में; कभी आगे की ओर, तो कभी पीछे की ओर; कभी ऊपर उठती, तो कभी नीचे गिरती। इन्हीं दिनों कलकत्ते की गलियों में लगे पोस्टरों से उन्हें पता चला कि जनमाष्टमी के अवसर पर काँकुड़गाछी के योगोद्यान में काँकुड़गाछी के योगोद्यान में भगवान श्रीरामकृष्ण के नित्य-आविर्भाव का उत्सव होगा। मधुराय गली में स्थित रामचन्द्र दत्त के मकान से एक शोभायात्रा निकलने वाली थी। कालीकृष्ण, खगेन आदि सभी लोग उस दिन सुबह निर्धारित समय पर शोभायात्रा में सम्मिलित होकर काँकुड़गाछी के उत्सव में पहुँचे।

इसके बाद से उनका काँकुड़गाछी के योगोद्यान में आना-जाना आरम्भ हुआ और रामबाबू के साथ उनकी घनिष्ठता हो गयी। रामबाबू ने भी बड़े प्रेम के साथ असाधारण उत्साह से युक्त इन भक्तों को अपनाया और वे घण्टों इनके साथ श्रीरामकृष्ण के बारे में चर्चा किया करते। योगोद्यान के अनेक छोटे-मोटे कार्य करते, यहाँ तक कि ठाकुर की सेवा का भार तक इन युवकों को सौंप दिया गया था। ये युवक कोलकाता की गलियों में जाकर भिक्षा माँगते और चावल, पैसे आदि लाकर ठाकुर के भोग-राग आदि का कार्य चलाते। इस प्रकार नाव को नयी गति तथा दिशा मिली।

'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ के लेखक श्री 'म' या महेन्द्र नाथ गुप्त उन दिनों रिपन कॉलेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक थे। जैसा कि स्वाभाविक था कालीकृष्ण की श्रद्धापूर्ण दृष्टि इन धीर-स्थिर प्राध्यापक की ओर आकृष्ट हुई। अवकाश के समय जब ये प्राध्यापक कॉलेज की छत पर स्थित छोटे-से कमरे में जाकर निर्जन में अपनी दैनन्दिनी के आधार पर 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नामक महाग्रन्थ की रचना करते, उस समय कालीकृष्ण या उनका कोई-न-कोई संगी उनका अनुसरण करता। आखिरकार एक दिन उनसे भेंट-परिचय हुआ और यह परिचय प्रगाढ़ अन्तरंगता में परिणत हुआ। एक दिन कालीकृष्ण अकेले ही मास्टर महाशय के घर जा पहुँचे। प्राध्यापक कालीकृष्ण को चटाई के ऊपर अपने अत्यन्त निकट बैठाकर विभिन्न प्रकार की बातें पूछने लगे। वे लोग काँकुड़गाछी जाया करते हैं, यह सुनकर एक दिन मास्टर महाशय बोले, "देखो, ठाकुर कामिनी-कांचन-त्यागी थे। उन्हें ठीक-ठीक समझने के लिये उनके जिन शिष्यों ने कामिनी-कांचन का त्याग कर दिया है, उन्हीं

पुरखों की थाती

कुचेलिने दन्त-मलावधारिणं
बह्वाशनं निष्ठुर-वाक्य-भाषिणम् ।
सूर्योदये चास्तमने च शायिनं
विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिनम् ।।

– यदि कोई अशोभनीय वस्त्र पहने रहता हो, दाँतों की सफाई न करता हो, बहुत भोजन करता हो और सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सोया करता हो; तो ऐसे व्यक्ति को लक्ष्मीजी त्याग देती हैं, चाहे वे साक्षात् श्रीहरि विष्णु ही क्यों न हों !

किं वाससा तत्र विचारणीयम्
वासः प्रधानं खलु योग्यतायाः ।
पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ तनूजां
दिगम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः ।।

– ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि 'वस्त्र से क्या होता है?' वस्त्र ही योग्यता का प्रधान अंग है। समुद्र ने भगवान विष्णु का पीताम्बर देखकर उन्हें अपनी पुत्री लक्ष्मी प्रदान की, परन्तु शिवजी को नंग-धड़ंग देखकर उन्हें विष प्रदान किया।

तृष्णाबद्धं जगत्सर्वं चक्रवत्परिवर्तते ।। (महा.)

– सारा जगत् 'तृष्णा' (कामनाओं) से बँधा हुआ है; और इसी के बल से चक्र के समान घूमता रहता है।

का संग करना होगा। वराहनगर मठ जाना – वहाँ देखोगे कि उनके त्यागी शिष्य सर्वस्व त्याग करके किस प्रकार जीवन-यापन कर रहे हैं। गृहस्थ चाहे जैसा भी क्यों न हो, ठाकुर का भाव ठीक-ठीक प्रस्तुत नहीं कर सकता।'' इसके अतिरिक्त मास्टर महाशय ने कालीकृष्ण से इतना तक कह दिया, ''साधुओं के स्थान पर खाली हाथ नहीं जाना चाहिये। और नहीं तो एक पैसे का कुछ लेते जाना।'' नौका की गति को अब और भी अधिक गति मिली।

कालीकृष्ण, खगेन, हरिपद तथा कुंज नाम का एक अन्य मित्र – चारों ने मिलकर योजना बनाई और एक दिन कॉलेज से भागकर वराहनगर मठ की ओर चल पड़े। कालीकृष्ण के दोनों दीप्त नेत्रों से उस दिन मानो मुमुक्षा की ज्योति नि:सृत हो रही थी। खगेन के घर में कॉलेज की पुस्तकें आदि रख कर वे लोग तेजी से रास्ता पार करने लगे। नाश्ते के लिये मिलनेवाले पैसों से उन लोगों ने ठाकुर के लिये जलेबियाँ खरीदकर साथ ले ली थीं। कालीकृष्ण ने उस दिन की स्मृति को अपने ही शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया था –

''गरमी का मौसम था। सुबह के साढ़े दस बजे से धूप में चलते-चलते, मार्ग का ठीक ज्ञान न होने के कारण हम लोग दोपहर के करीब एक बजे वराहनगर मठ में हाजिर हुए। उस समय सभी लोग जगे हुए थे और बड़े कमरे में विश्राम कर रहे थे। शशी महाराज, निरंजन महाराज, महापुरुष महाराज, बूढ़े गोपाल महाराज, योगीन महाराज, लाटू महाराज, खोका महाराज, सारदा महाराज और दक्ष महाराज – ये ही लोग उस समय मठ में थे, ऐसा याद आता है। हमारे प्रणाम करने के बाद सबने हमें स्नेहपूर्वक बैठाकर – 'कहाँ से आ रहे हो? क्या करते हो? कहाँ रहते हो? मठ की बात कैसे ज्ञात हुई?' आदि पूछा। हमारा वृत्तान्त सुनकर वे लोग बड़े खुश हुए और हमें खूब उत्साहित किया। उन्हें देखकर हममें भी एक नयी चेतना जागी। हमें लगा कि हम जगत् को पीछे छोड़कर न जाने कहाँ आ पहुँचे हैं। खण्डहर-नुमा एक पुराना मकान, टूटे हुए दरवाजे-खिड़कियाँ, परन्तु वहाँ मानो एक सजीव आध्यात्मिक भाव स्पन्दित हो रहा था। उन लोगों के चेहरे भी अग्निशिखा के समान तेजोद्दीप्त थे। मठ में खूब सादगी का भाव था। फर्श पर चटाई बिछी हुई थी, सामान के नाम पर लगभग कुछ भी नहीं था। हॉल की दीवार पर माँ-दुर्गा, काली, ईसा आदि के चित्र टँगे हुए दिखे। प्रत्येक चित्र के नीचे कोई उक्ति लिखी हुई थी, यथा – **मुक्तिमिच्छसि चेत् तात विषयान् विषवत् त्यज** (अष्टावक्र गीता)। स्वामीजी इसके छह महीने पूर्व परिव्रज्या के लिये निकल पड़े थे। वे लोग बोले, 'तुम लोग यदि कुछ काल पूर्व आते, तो तुम्हारे साथ भेंट होती।' चार बजे मन्दिर खुलने के बाद हम लोगों ने प्रणाम किया और प्रसाद लेकर घर लौटने को विदाई ली। वे सभी बोले, 'बीच-बीच में यहाँ आते रहना'।''

वराहनगर मठ के इस दिन ने कालीकृष्ण के जीवन में इतनी हलचल मचा दी थी कि इसकी स्मृति उनके जीवन के अन्तिम दिन तक स्पष्ट रूप से जाग्रत रही। सुदीर्घ काल के बाद, अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भी कभी यह प्रसंग उठने पर वे अत्यन्त आवेग के साथ उस दिन की बातों का वर्णन करने लगते। देहत्याग के मात्र कुछ दिनों पूर्व भी उन्होंने इसी प्रकार कहा था – ''हम लोगों को वहाँ जाकर लगा कि मानो एक नये राज्य में आ पड़े हैं – सब कुछ अद्भुत प्रतीत हुआ।... उन लोगों का जीवन देखकर और बातें सुनकर हमारे मन पर एक अमिट छाप पड़ गयी – मानो एक नया प्रकाश, एक नया जगत् मिला।''

अब से उन लोगों के वराहनगर मठ में आने-जाने तथा घनिष्ठता में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। कॉलेज से अवकाश मिलते ही कालीकृष्ण वराहनगर चले आते और कई घण्टे वहीं बिता देते। कालीकृष्ण गणित से बड़ा डरते थे, हिसाब में कच्चे थे। एक दिन शशी महाराज की उनके साथ पढ़ाई-लिखाई के विषय में बातें हो रही थीं – सम्भवत: वे बालक कालीकृष्ण के मनोभाव की परीक्षा ले रहे थे। कालीकृष्ण की आत्मस्मृति में यह प्रसंग इस प्रकार वर्णित हुआ है – ''शशी महाराज हमारे पाठ्यक्रम के बारे में भी तरह-तरह के प्रश्न करते। देखते कि कहीं मैं पढ़ाई-लिखाई से बचने के लिये तो मठ नहीं आ रहा हूँ। एक दिन उन्होंने मुझे पकड़ा। मैंने प्रारम्भ में ही उनसे कह दिया था, 'बाकी सब विषय मुझसे पूछ लीजिये, केवल गणित के विषय में प्रश्न मत कीजियेगा – उसमें मैं बड़ा कच्चा हूँ।' शशी महाराज ने कहा, 'तुम गर्मी की छुट्टियों के डेढ़ महीने यहाँ आकर रहो। मैं तुम्हें ऐसा गणित पढ़ा दूँगा कि उसमें फेल होने का कोई भय नहीं रहेगा।' मैंने कहा, 'पिताजी से पूछकर देखूँगा।' '' कालीकृष्ण सचमुच ही पिता की अनुमति पाकर गर्मी की छुट्टियों के प्रारम्भ से ही अपनी किताब-कापियाँ लेकर मठ में आ पहुँचे। उद्देश्य था – गणित पढ़ना। उनके आते ही सभी लोग महा आनन्दित हो उठे। कालीकृष्ण को भी मानो इतने दिनों के बाद अपने स्वधाम प्राप्त हुआ। वे भी परम आह्लादपूर्वक साधुसंग तथा ठाकुर-सेवा में मतवाले हो उठे। शशी महाराज के साथ मठ के अनेक छोटे-मोटे कार्यों – यथा पानी लाना, फूल तोड़ना, बरतन माँजना आदि में तन्मयता के साथ उनका समय बीत जाता। डेढ़ महीने मानो किसी नशे की झोंक में बीत गये। किताब-कापियाँ यथावत् पड़ी रह गयीं। गणित की यह एक नये प्रकार की ही पढ़ाई थी ! कॉलेज खुलने पर उन्हें बाध्य होकर फिर घर लौटना पड़ा; परन्तु उनका मन वराहनगर मठ के उसी जीर्ण मठ-भवन में पड़ा रह गया।

❖ (क्रमश:) ❖
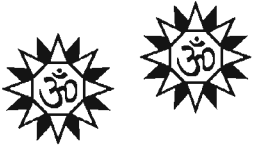
श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्रीरामकृष्ण
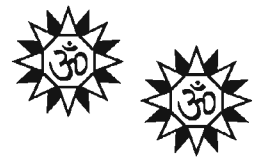
श्री मोरारी बापू (रामकथा के सुप्रसिद्ध वक्ता)

(प्रस्तुत उद्बोधन बापू ने रविवार, २४ फरवरी, २००८ को श्रीरामकृष्ण आश्रम, राजकोट में सायं ६ बजे श्रीरामकृष्ण पुराण, भाग २ का विमोचन करते हुए दिया था। 'विवेक ज्योति' के लिये गुजराती प्रवचन का हिन्दी अनुवाद भावनगर के श्री सुरम्य मेहता ने किया है।)

लोकाभिरामम् रणरंगधीरं राजीवनेत्रं रघुवंशनाथम्।
निरुपमं करुणाकरंतं श्रीरामचन्द्रं शरणं प्रपद्ये।।
मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये।।

पूज्य महाराजजी, जिनकी आज के इस पावन अवसर पर आशीर्वाद रूप उपस्थिति है और सभी यतिवृन्द, ब्रह्मचारी वृन्द, आप सभी भाई-बहनो तथा अन्य सभी!

वर्षों पूर्व तीन दिन के रामायण-प्रवचन में मैंने दो-तीन पात्रों को लेकर चर्चा की थी – सुग्रीव को शिक्षा मिली, विभीषण को दीक्षा मिली और भरतजी को प्रेम की भिक्षा मिली। भगवान श्रीरामकृष्ण देव के अवतार-कार्य के प्रसंग पर आधारित गुजराती भाषा में एक ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। इस ग्रन्थ के विमोचन करने से हमारे हाथ ही अधिक पवित्र होते हैं। इसलिये मुझे बहुत खुशी है कि बहुत साल बाद पुन: मैं इस अवसर पर यहाँ आ सका।

मुझे 'श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्रीरामकृष्ण' – विषय दिया गया है। विषय तो विषयी को देते हैं। हमें न सिद्ध होना है और न विषयी होना है। हमें तो साधक बनकर बीच के मार्ग पर रहना है। मेरी कथा का श्रवण करनेवाले सभी भाई-बहन जानते हैं कि कथा के दौरान मैं श्रीरामकृष्ण को याद करता हूँ और आज उनका वही रूप हमारे समक्ष विराजमान है, जो कलकत्ते के बेलूड़ मठ में है। बचपन से ही इस रूप के प्रति मुझे मोह नहीं, बल्कि स्नेह-प्रेम है। परम तत्त्व के प्रति मोह भी रहे, आसक्ति भी रहे, तो कोई बाधा नहीं। भागवत में भगवान कपिल ने देवहूति को कहा है –

स एव साधु सुक्रतो मोक्ष-द्वारम् अपावृतम्।।

मेरे जीवन में, मेरे मन में जो मूर्तियाँ बसी हुई हैं, इनमें से एक मूर्ति ठाकुर की है। गाँधीजी के चित्रों में, प्रार्थना में बैठे हुये गाँधीजी की तस्वीर मुझे बहुत पसन्द है। मेरे गाँव तलगा जरडा (गुजरात) में जो हनुमानजी बैठे हैं, उनकी वह मुद्रा मुझे पसन्द है। यह हमारी निजी निष्ठा का विषय है। ठाकुर के समाधि में बैठे हुये इस चित्र से मेरा बहुत नेह-प्रेम है। गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका में राम की स्तुति की है –

नवकंज लोचन कंजमुख, करकंज पद कंजारुणम्।
श्रीरामचन्द्र कृपालु भज मन हरण भव भय दारुणम्।।

इसमें भगवान राम के चार अंगों का वर्णन है। वे कहते हैं – रामजी की कमल जैसी आँखें, रामजी का कमल जैसा मुख, रामजी के कमल जैसे हाथ और रामजी के कमल जैसे चरण। जब मैं ठाकुर श्रीरामकृष्ण का चित्र देखता हूँ, तब मुझे यही पंक्ति याद आती है। **नवकंज लोचन** – बहुत लोगों की आँखें तो मार डालती हैं, पर सिद्ध महापुरुष की आँखों में वह शक्ति रहती है कि वे हम सबको परख सकते हैं और हमें परमात्मा को भी दिखा सकते हैं। इसलिये ठाकुर कहते थे – यह नरेन (स्वामी विवेकानन्द) यहाँ का जीव नहीं है। आकाश में दिखते सप्त तारकों (ऋषियों) में से एक है, इसने इस पृथ्वी का कल्याण करने हेतु अवतार लिया है। ठाकुर अपनी दृष्टि से नरेन्द्र को पहचान गये थे।

आप ठाकुर की आँखों को देखना। सम्भव है कि प्रारम्भ में ज्यादा ध्यान न भी हो, पर चिन्ता की कोई बात नहीं, उन्हें देखते रहो। उनकी आँखों में जो मिलेगा, शायद हम उसे समझ न सकें, पर सम्भव है कि उनकी समाधि का चमत्कार हमें प्राप्त हो जाय। यह उनकी आँखों की विशेषता है!

जब मैं ठाकुर की आँखों को देखता हूँ, तो मुझे उनकी एक आँख भगवान राम की लगती है और दूसरी भगवान कृष्ण की। ये दोनों आखें ठाकुर में एक साथ दिखती हैं। इसीलिये उन्हें अवतारवरिष्ठ कहा गया है। लेकिन शास्त्रों में दक्षिण आँख और वाम आँख कहा गया है। कालीदास ने कहा है – जब कहीं से भी प्रमाण न मिले, तब साधक की अन्त:करण की प्रवृत्ति प्रमाण ही मानी जाती है –

सन्देहपदेषु अन्त:करण प्रमाण अन्त:करण प्रवृत्तये।

उनकी दाँयी आँख मुझे रामजी की दिखती है। यह जो दाक्षिण्य है, आँख की शालीनता है – नवकंज लोचन, वह मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम की आँख है। लेकिन बाँयी आँख कृष्ण की है, क्योंकि वे प्रेम-पुरुषोत्तम हैं। कई लोग आकर पूछते हैं कि क्या आपके राम बारह कला के अवतार थे और कृष्ण सोलह कला के? मैं कहता हूँ – यह तो मुझे भी नहीं पता कि वे कितनी कला के थे, लेकिन तुम अपनी चिन्ता करो। उसके बाद मैं उन लोगों को समझाता हूँ कि सूर्य या आदित्य बारह हैं, इसलिये राम बारह कला के हैं। चन्द्र सोलह कला के हैं, इसलिये कृष्ण सोलह कला के हैं।

ठाकुर की दाँयी आँख भगवान राम की है। एक आँख में प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और करुणा उभरती है। प्रेम में कोई

नियम नहीं है। प्रेम में बहुत शालीनता है। प्रेम बहुत मर्यादा का मार्ग है। मीरा भी नाची थी, लेकिन कभी रंगमंच की मर्यादा का त्याग नहीं किया। दूसरी बायीं आँख प्रेमपूर्ण कृष्ण की है। ठाकुर इन दोनों आँखों को एक साथ लेकर आये हैं। उनकी आँखों में इतना साम्य है। राम की आँख का हमने सिर्फ वर्णन पढ़ा है, देखा नहीं है। ठाकुर की आँखें हमें दिखती हैं, क्योंकि ज्यादा समय बीता नहीं है। केवल चर्म-चक्षु नहीं – आँख यानी दर्शन। ठाकुर के दर्शन में भगवान राम और भगवान कृष्ण – दोनों का दर्शन समाहित है। उसमें दोनों अवतारों के दर्शन का समन्वय है। ठाकुर के समग्र जीवन में राम और कृष्ण का दर्शन चरितार्थ होता है। कृष्ण गृहस्थ हैं, राम गृहस्थ हैं, अपने ठाकुर भी गृहस्थ हैं। कितने संन्यासी उनके पास तैयार हुये ! लेकिन आधार गृहस्थ है। माता-पिता न होने से पुत्र का जन्म नहीं होता। इसके लिये माता-पिता चाहिये। ऐसे ज्ञान और भक्ति के मिलन के बिना सम्भवत: सच्चा संन्यास भी जन्म न ले पाता।

अभी मैं ठाकुर को देख रहा था – एक ओर विवेकानन्दजी हैं, दूसरी ओर माँ सारदा हैं और मध्य में ठाकुर बैठे हैं। विश्वामित्रजी ने रामरक्षा-स्तोत्र में लिखा है –

दक्षिणे लक्ष्मणे यस्य वामे च जनकात्मजा।
उभौ मारुति यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ।।

ठीक उसी प्रकार जब हम ठाकुर का यह रूप देखते हैं, तब ऐसा भाव आता है –

दक्षिणे विवेकानन्द यस्य वामे तु सारदाम्बिका।

पर सामने में कौन है? वहाँ तो हनुमानजी सामने में है। और यहाँ? – तीव्र जिज्ञासा से भरे हुये और पूरी निष्ठा लेकर उनकी शरण में आये हुए साधक ही उनके सन्मुख हैं।

ठाकुर के साथ दक्षिण भाग में विवेकानन्द उनके साथ हैं और पास में सारदाम्बा हैं। यहाँ (राम के समय में) हनुमानजी हैं। रामायण में सूत्र है – "सन्मुख होई जीव मोहि जबही'। यहाँ ठाकुर के सामने हम जिज्ञासु बनकर मारुति के स्थान पर रहेंगे, ऐसे श्रीरामकृष्णदेव को वन्दन !

राम गृहस्थ हैं, भगवान कृष्ण भी गृहस्थ हैं। संसार की दृष्टि से रामकृष्ण का एक विशाल परिवार है। यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से कितना बड़ा परिवार है। कितने को अपनी निजता में सँभाला है। मुझे ठाकुर की दोनों आँखों में ऐसा दिखता है। एक दृष्टि से चर्म-चक्षु और एक दृष्टि से दिव्य दर्शन।

राम सूर्यवंशी, कृष्ण चन्द्रवंशी। एक आँख सूर्य की, दूसरी चन्द्र की। पूर्णतया योग की प्रक्रिया शुरू होती है। इस प्रक्रिया से इंगला चले, पिंगला चले या सुषुम्ना चले। सूर्यनाड़ी चलती है या चन्द्रनाड़ी चलती है, इस प्रकार जीवन की साधना चलती है। यह ठाकुर के जीवन में हम देख पाते हैं। यहाँ मैं ठाकुर के स्थान में बैठा हूँ, यहाँ बोलने के लिये आया हूँ। आप लोगों को खुश करने के लिये मैं नहीं कह रहा हूँ। मेरा ठाकुर के प्रति नेह जगजाहिर है।

ऐसी निर्दोष मूर्ति मैंने अब तक नहीं देखी। उनके जीवन का आर-पार सब कुछ स्वच्छ दिखता है। विवेकानन्द को ठाकुर के अन्तिम समय में भी संशय था कि क्या ये अवतार-पुरुष हैं? नरेन ठाकुर से कहा करते थे कि आप मेरी इतनी चिन्ता क्यों करते हैं? ठाकुर बोले – मैं तुझमें नारायण देखता हूँ, इसलिये तेरी चिन्ता करता हूँ। अन्तिम समय में ठाकुर को खाने के लिये बाध्य करने पर वे कहते – "मुझे अपने मुख से खाने की जरूरत नहीं। मैं तुम सब लोगों के मुख से खा-पी रहा हूँ।'' उनकी महिमा भला कौन समझे !

ठाकुर के हृदय में कितनी सरलता है ! भगवान राम बड़े सहज-सरल हैं। कृष्ण सहज-सरल हैं। इनके आधार बहुत बड़े हैं। ये राज-परिवार के हैं। पर ठाकुर का प्राकट्य एक छोटे-से गाँव में, बिल्कुल अकिंचन परिवार में हुआ।

वे इतने निर्दोष थे, जितना निर्दोष मनुष्य हो सकता है। हमारे राम-चरित-मानस में ऐसा कहा गया है – राघव तुम्हारे में कोई दोष नहीं है – **तुम अपराध जोग नहीं ताता**। इसी तरह ठाकुर का यह स्वरूप भी निर्दोष है। मिस्र देश में एक चित्र है। उसमें एक तराजू है, पलड़े बड़े हैं, तीन बड़ी गोल-गोल कड़ीवाली लोहे की साँकल है। एक पलड़े में पक्षी के पंख से भी हल्का कुछ रखा है और दूसरे पलड़े में मनुष्य का हृदय रखा है। पहला पलड़ा जमीन पर जा पहुँचा। हृदयवाला पलड़ा जमीन से तीन गज ऊपर उठ गया। हृदय निश्चित ही भारी है, फिर भी ऊपर उठ गया। एक बिल्ली या वैसा ही कोई प्राणी हृदय को मांस समझकर उसे खाने के लिये उछलता है, लेकिन यह पलड़ा ऊँचा है। बिल्ली पहुँच नहीं पाती। बस, चित्र यहाँ तक कुछ कहता है। समझना यह है कि जो इस तरह बिना वजन का, हल्का बन जाता है, समाज की कोई बिल्ली या ऐसा काटने वाला प्राणी जैसा मनुष्य उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। ऐसी निर्दोषता मुझे ठाकुर में दिखाई देती है। राम की सरलता और कृष्ण की सबलता ठाकुर का दक्षिण अंग है और कृष्ण का युग-धर्मार्थ जग-हिताय – इनके वाम अंग हैं।

ठाकुर अपनी दो आँखों में चन्द्र और सूर्य को निमंत्रित करते-से लगते हैं। राम का मुख कैसा है – कंजमुख – कमल जैसा। ठाकुर का मुखारविन्द कैसा है? समाज में अनेक ऐसे चेहरे मिलते हैं, जिन्हें देखने से पुरानी स्मृति आती है, ऐसा अनुभव होता है कि यह चेहरा मैंने कहीं देखा है या इनके जैसा पहले कभी कोई मिला है। इसी तरह ठाकुर का कमल जैसा असंग चेहरा, निर्लेप चेहरा भी हमको राम और कृष्ण का स्मरण कराता है।

चेहरे के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। कृष्ण के लिये 'मुखारविन्दम्' शब्द का प्रयोग हुआ है – **करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्**। कृष्ण का मुख कमल जैसा है। ठाकुर श्रीरामकृष्ण के मुख पर कमल जैसी असंगता दिखती है। मुख के दोनों होंठ खुले हैं। इसमें से दाँत दिखाई देते हैं। यदि ऐसा न होता, तो यही चेहरा इतना चित्ताकर्षक न होता। यही तो सहजता है। मैं जब दोनों होंठ देखता हूँ, तो जो दन्तकली दिखाई देती है, उससे लगता है, मानो कमल की दो पंखुड़ियाँ धीरे-धीरे खुल रही हैं। राम और कृष्ण के अवतार में चेहरे में दाढ़ी-मूँछें नहीं है, पर ठाकुर के चेहरे पर है। आगे के दोनों अवतारों को हम सबने बड़े-बड़े देवता के रूप में रखा है, जबकि यह रामकृष्ण अवतार हमारी इस धरती पर, हमारे साथ आमने-सामने बैठा हुआ है। यह हमारे साथ प्रत्यक्ष बातचीत और चर्चा करता हुआ अवतार है। वे अब भी हमारी समस्याओं का समाधान देते हैं। जिसकी साधना परिपक्व होगी, उसके लिये उनका यह आधा खुला दिखता होठ, लगता है मानो कुछ कहना चाहते हैं। भीष्म को गंगावाणी सुनाई देती थी, कर्ण को सुबह-सुबह सूर्य की स्वर्णिम कोमल किरणें प्रेम करती अनुभव होती थी – ऐसा महाभारत आदि ग्रन्थों में है। इसी तरह ठाकुर के सेवकवृन्द, उनके चरणों में समर्पित साधकों को ये खुले होठ अवश्य कुछ-न-कुछ सन्देश देते होंगे। वे कुछ बोल रहे हैं। काश ! हमारे कान सुन सकते !

अपने मन्दिरों में हम आरती करते हैं, उस समय वहाँ बहुत-कुछ होता रहता है। उस स्थान में इतनी नीरवता रहनी चाहिये कि देवता क्या बोल रहे हैं, हम यह सुन सकें। यह मत सोचना कि ये नहीं बोलते हैं। पास-पड़ोस वाले हमारे साथ बात नहीं करते, इसीलिये ये अवतार भी नहीं बोलते हैं, ऐसा नहीं है। पास-पड़ोस की तो छोड़ो, परिवार के ही नहीं बोलते। लेकिन ये अवतार सब बोलते हैं। ठाकुर के ये खुले होठ ! मालूम नहीं, कितनी सहजता से यह रूप आया। और दाँत – जो दन्तकलियाँ दिखती हैं ! कितना मुक्त दन्त है ! यह उनकी विशेष असंगता का प्रतीक है। ये दो दाँतें, शायद कहती हैं – मेरा चरित्र कोई दन्तकथा नहीं है, वास्तव में है। यह बत्तीस पुतली की कथा-वार्ता नहीं। मुख में बत्तीस दन्त है और इतनी ही किसी ने बनी-बनाई कहानियाँ सुनाई। ठाकुर ने ऐसा-ऐसा किया, ये कहानियाँ नहीं हैं, इनकी कुछ महिमा है। बत्तीस पुतली की कहानियों में भी कुछ सन्देश जरूर है। मेरा चरित्र, मेरा अवतार केवल दन्तकथा नहीं, एक परम अवतार कार्य है। कभी राम 'रामगीता' के रूप में मुखरित होते हैं, कभी कृष्ण 'भगवद्गीता' के रूप में मुखरित होते हैं, ऐसे ही दोनों के समन्वित रूप में अपने ठाकुर समस्त धर्मों को विश्व के सामने एक मुखरता प्रदान करते हैं।

ठाकुर के इन आधे खुले हुये होठों का क्या तात्पर्य है? यदि कमल पूर्ण विकसित हो जाय, तो बाद में मुरझा जाता है। चन्द्र दूज का रहे, तब तक बाधा नहीं। उनको प्रतिदिन बढ़ना है पूर्णिमा तक। ठाकुर के होठ पुरे खुले नहीं हैं, वह एक विकसित हो रहे साधक का प्रतीक है। ठाकुर तो एक सिद्ध पुरुष हैं, लेकिन यह एक विकास की प्रक्रिया है।

ठाकुर बिल्कुल गाँव की देहाती भाषा में बोले हैं। हमारे सामने बैठकर, सभी समझ सकें ऐसी भाषा में, समस्त विश्व को उन्होंने आध्यात्मिकता का अमृतपान कराया है।

आप लोग धर्म-चर्चा, कथा-प्रवचन आदि सुनते हुये या शास्त्र याद करते हुए मनुष्य के होंठ देखते रहना। होंठ कितना ज्यादा खुला रहता है, उस पर से साधक का इष्ट-नाम निकलता है। यह सब साधक का परीक्षण केन्द्र है।

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप ।।

उनके (ठाकुर के) होंठ राम और कृष्ण दोनों के उपदेशों को कहने जा रहे हैं, कहने को लालायित हैं – कोई मुझे सुनो, कोई मुझे सुनो ! यह कोई दन्तकथा नहीं है, परम की कथा है। वे स्वयं परम हैं। ऐसा कहना कि मैं अवतार हूँ, यह बड़ी हिम्मत की बात है ! युगों पहले कृष्ण ने कहा है – **मामेकं शरणं व्रज** – तुम मेरी शरण में आओ, मैं ईश्वर हूँ। ठाकुर ने विवेकानन्द के संशय का समाधान करते हुये कहा, "जो राम, जो कृष्ण, वही आज इस शरीर में 'रामकृष्ण'। मुझे ऐसा लगता है कि हमारे परम विश्वास का जो केन्द्र है, वह बहुत मुखर नहीं होता। दोहावली रामायण में लिखा है – विश्वास मौन होता है। ठाकुर मौन बैठे हैं। दक्षिणामूर्ति दक्षिणेश्वर के महादेव मौन बैठे हैं और शिष्यों का संशय नष्ट हो जाता है। गुरु मौन विराजमान हैं।

मैं देखता हूँ कि ठाकुर का ऊपर का होठ मेरे रामजी का होठ है और नीचे का कृष्णजी का। ठाकुर ने इस अवतार में साधना की सभी पद्धतियों को, सभी मार्गों को सारे विश्व को बताया – जितने मत उतने पथ। इन महापुरुष ने इतना बड़ा समन्वय किया ! ठाकुर के दोनों हाथ एक-पर-एक रखे हुये हैं। वैसे यह मुद्रा बहुत ही सरल है। ये साधक को संकेत करते हैं कि आप मेरी तरह शान्ति से कुछ न करते हुये बैठ जाओ, तो भी बहुत है। राजेन्द्र भाई का एक शेर है –

कोई कुछ करता नहीं, यह सब तो हो जाता है।
अस्तित्व के नियम से सब चलता ही रहता है ।।

चरैवेति, चरैवेति – यह प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। विराजमान ठाकुर के दो हाथ – एक राम का है, एक कृष्ण का है। हम राम के हाथ में धनुष-बाण देखते हैं और कृष्ण के हाथ में कभी बाँसुरी देखते हैं या कभी अर्जुन के रथ में जुड़े हुये घोड़े की लगाम देखते हैं। इसकी बहुत महिमा है।

इसलिये तो भगवती श्रुति में है – **अयं मे हस्तौ भगवान, अयं मे भगवत्तरः**। ठाकुर के दो हाथ – राम और कृष्ण के हाथ की झलक है। रामावतार में धनुष-बाण उठाया और कृष्णावतार में गिरिराज को तोला, न मालूम कितना कुछ किया। दोनों अवतारों ने कितना कर्मयोग किया! ठाकुर को लगा कि अब यह सब छोड़कर दोनों हाथों को जोड़कर शान्त चित्त से मनुष्य बैठ जाय। जीव को शान्ति मिले। मनुष्य ने इन दोनों हाथों से अच्छे-बुरे कार्य किये हैं। ठाकुर के द्वारा दोनों हाथ साथ में रखने का तात्पर्य यह है कि समाज में बाँया-दाँया कुछ न रहे, सबका समन्वय हो जाय। कोई हिन्दू न रहे, कोई मुसलमान न रहे, कोई ईसाई न रहे, कोई पारसी न रहे, कोई जैन न रहे – सब एक हो जायँ। सब लोग साथ में हो जायँ। सम्भवत: ऐसी प्रेरणा देने के लिये ठाकुर ने दोनों हाथों को जोड़कर रखा है। उनके चरण कैसे हैं? – **पद-कंजारुणम्**। ठाकुर के दोनों चरण भी कमल जैसे हैं। एक चरण श्रीराम का है और दूसरा श्रीकृष्ण का।

भगवान के हाथ में धनुष-बाण और बाँसुरी है। हो सकता है कि जब हम सहायता माँगने जायें, तो अधिक सहायता न मिले, क्योंकि पहले धनुष-बाण को एक ओर रखना पड़ेगा और बाद में हमें पकड़ेंगे, तब तक बहुत समय लग जायेगा। हमें गिरने की बहुत जल्दी रहती है, तब तक हम गिर चुके होंगे। खेल खतम, सब समाप्त। बड़ी मुश्किल होगी। ठाकुर ने सोचा कि इन दोनों अवतारों में देश-काल कुछ और रहा, इसलिये **विनाशाय च दुष्कृताम्** – दुष्टों का संहार किया, किन्तु ठाकुर का समन्वित रूप मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों को नष्ट करने, मानव-मन के कूड़े-कचरे को साफ करने के लिये, सबकी उन्नति के लिये आया है, विश्व को तारने के लिये आया है, किसी को मारने के लिये नहीं। ठाकुर को लगा होगा कि इस बार हाथ में कुछ रखना नहीं है, ताकि कोई बाधा न उत्पन्न हो। साधक को जब भी मेरी सहायता की जरूरत पड़े, मैं उसे तुरन्त दोनों हाथों से पकड़ लूँ।

श्रीरामकृष्ण हमारी वृत्तियों को ठीक करने आये। कितनी सारी सिद्धियों के बाद भी उनकी सहजता देखो। एक सिद्ध आकर कहने लगा – मैं गंगा के इस छोर से सामनेवाले छोर तक पानी पर चलकर जा सकता हूँ। ठाकुर बोले – "वाह! क्या अद्भुत! बहुत अच्छी बात है। लेकिन तुम जो पानी पर चलने का काम कर सकते हो, यह तो दूधवाला नाव में इधर से उधर जाने के लिये सिर्फ एक आने में करता है। तुमने इस सामान्य काम के लिये व्यर्थ में पचीस साल बिता दिये! बिना कारण तुम क्यों इतनी परेशानी में रहते हो। ये पैर पानी पर चलने के लिये नहीं दिये गये हैं। ये हमें विवेक रखते हुये इस धरती पर ही चलने के लिये दिये गये हैं।"

विदेश में कथा का आयोजन था। एक श्रोता रामायण को आकण्ठ पी गया था। सारे गाँववालों को दबाकर घूमता फिरता। लोग कहते – इतना ऊँचा चलता है कि इसके पैर धरती पर नहीं टिकते। पैर यदि धरती पर नहीं चलेंगे, तो जैसे पक्षी के आकाश में उड़ जाने पर उसके पैर के निशान नहीं रहते, वैसे ही आपके पैर के चिह्न भी नहीं दिखेंगे। यहाँ ठाकुर के दो पैरों के पदचिह्न हैं, रमण महर्षि के पदचिह्न हैं, इस देश में बहुत-से महापुरुषों के पदचिह्न हैं। उनके चरणों में भी असंगता है – कितनी साधना के बाद ऐसी असंगता आती है! जगद्गुरु आदि शंकराचार्य जैसे व्यक्ति एकान्त में शान्ति से बैठ जाते हैं। जब कृष्ण प्राची के पीपल के वृक्ष के नीचे सब कुछ छोड़कर शान्त बैठे होंगे, तब अन्तिम समय वह तीर पैर में लगा होगा। जब भगवान राम ने सरयू नदी में विलीन होने की तैयारी की होगी, उस समय कैसी उदासीनता होगी! उदासीनता का अर्थ उदास होना नहीं, बल्कि है राग-द्वेषमुक्त चित्त की अवस्था। यह एक अद्भुत अवस्था है! हमारे ठाकुर ऐसे ही असंग विराजमान दिखते हैं। आज भी अपने देश में कन्या के पाणिग्रहण – शादी के समय दोनों को सीता-राम के आयु का आशीर्वाद दिया जाता है, कृष्ण-राधा के सुहाग का आशीर्वाद दिया जाता है। ये जो सारदा माँ बैठी हैं, इन्होंने अपनी माँग से कभी सिन्दूर नहीं निकाला, क्योंकि इन्हें पता है कि मेरे ठाकुर कहीं जानेवाले नहीं हैं। आत्मा नहीं मरती, तो महात्मा कैसे मर सकते हैं? एकमात्र जगज्जननी माँ सारदा हैं, जिन्होंने कभी वैधव्य स्वीकार नहीं किया। वे जानती हैं कि ठाकुर कहीं जा नहीं सकते, वे नित्य हैं। इसीलिये ठाकुर की नित्य वैसी ही सेवा-सुश्रूषा चलती रहती है, जैसी उनके जीवनकाल में थी। पराम्बा माँ सारदा ठाकुर की बायाँ हिस्सा हैं और युवा नरेन्द्रनाथ दाहिना हिस्सा हैं और इन दोनों के बीच में साक्षात् ठाकुर विराजमान हैं।

वाणी को पवित्र करने के लिये उनके बारे में बोलना था। उनके बारे में और भी बहुत कुछ बातें हो सकती हैं। शास्त्र की दृष्टि से सब कुछ स्पष्ट है। कभी-कभी ऐसा अवतरण होता रहता है। ठाकुर के रूप में राम और कृष्ण के चरणों की झाँकी मिलती है, राम-कृष्ण के कर-कमलों की झाँकी मिलती है, राम-कृष्ण के चेहरे की झाँकी मिलती है, राम-कृष्ण के नेत्रों की झाँकी मिलती है। ऐसे ठाकुर के चरणों में अपने हृदय की श्रद्धा और भाव समर्पित करने के लिये मुझे यहाँ आने का अवसर प्राप्त हुआ, इससे मैं आनन्दित हूँ।

ठाकुर शान्त बैठे कुछ रहे हैं। शायद कह रहे हैं – तुम कहीं भी हो, चाहे जो हो, जैसे भी हो, मेरे पास आ जाओ, बाकी सब मैं देख लूँगा। ठाकुर ऐसा अभय वचन दे रहे हैं। सद्गुरु की कभी स्थूल समाधि नहीं बनती। उनकी सच्ची समाधि तो उनके उदात्त शिष्य-वृन्द बनते हैं। श्रीरामकृष्ण की सच्ची समाधि स्वामी विवेकानन्द ही बन सकते हैं। अस्तु।

वर्ष २००८-०९ के लिए कार्यकारिणी-समिति की रिपोर्ट का सारांश

रामकृष्ण मिशन की १००वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड़ मठ में २० दिसम्बर, २००९ को अपराह्न साढ़े ३ बजे आयोजित की गयी। समिति-पंजियक द्वारा ४ मई १९०९ को मिशन का पंजियन हुआ था, अतएव इसके सौ वर्ष पूरे हुए।

इस वर्ष के दौरान मिशन के द्वारा उड़ीसा राज्य के रायगड़ा जिले के **हतमुनिगुडा** में एक नये केन्द्र का शुभारम्भ किया गया।

शैक्षणिक क्षेत्र में इस वर्ष की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – सारदापीठ केन्द्र के विद्यामन्दिर कॉलेज में बँगला भाषा तथा रहड़ा केन्द्र के विवेकानन्द शताब्दी कॉलेज में रसायन शास्त्र में **स्नातकोत्तर विभागों की शुरुआत**, इंस्टिट्युट ऑफ कल्चर, गोलपार्क के भाषा-शिक्षण-विभाग में बोलचाल की जर्मन, बोलचाल की चीनी एवं वाणिज्यिक चीनी भाषा के कोर्सों की शुरुआत, कोयेम्बटूर केन्द्र की औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान में विद्यालय छोड़ने वाले छात्रों के लिए Industry Sponsored Skill Training Programme तथा भवन-निर्माण कार्य से सम्बन्धित Skill Training Course की शुरुआत, लखनऊ केन्द्र के विवेकानन्द पॉलीक्लिनिक में प्लास्टिक सर्जरी एवं पैथोलॉजी में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र का शुभारम्भ तथा सेवा प्रतिष्ठान, कोलकाता में Post basic B.Sc. नर्सिंग कॉलेज का शुभारम्भ।

चिकित्सा क्षेत्र में इस वर्ष की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – सेवा प्रतिष्ठान क्रेन्द्र में MRI Unit स्थापन, लखनऊ केन्द्र के विवेकानन्द पॉली क्लिनिक में २४-शय्याओं वाले अस्थि-चिकित्सा विभाग की शुरुआत, नरेन्द्रपुर केन्द्र में पंचकर्म चिकित्सा सेवा की शुरुआत, पुरुलिया केन्द्र में भ्राम्यमान चिकित्सा-ईकाई का शुभारम्भ एवं वृन्दावन केन्द्र के डिस्पेन्सरी में फिजियोथेरापी विभाग का शुभारम्भ।

ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – चेरापुँजी केन्द्र के द्वारा २०० ग्रामीणों में मधुमक्खी पालन बॉक्सों का वितरण, पुरुलिया केन्द्र के द्वारा अयोध्या पहाड़ के नीचे २ बाँधों का निर्माण, नारायणपुर केन्द्र के द्वारा छत्तीसगढ़ में ३ Lift-irrigation system सहित एक बाँध का निर्माण जिसके द्वारा १७६ एकड़ उपजाऊ भूमि में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हुई तथा ७९ आदिवासी परिवार लाभान्वित हुए। सारदापीठ केन्द्र के जनशिक्षा मन्दिर द्वारा पश्चिम बंगाल के उत्तर चौबिस परगना जिले में निर्धन ग्रामीणों के २५ भग्न गृहों का जीर्णोद्धार, नरेन्द्रपुर केन्द्र के लोकशिक्षा-परिषद के द्वारा कई कार्यक्रमों का शुभारम्भ, जैसे special aromatic plantation training course, poverty alleviation programme through rice innovation system, fluoride mitigation programme एवं national hand-washing programme आदि।

इस दौरान रामकृष्ण मठ के द्वारा केरल में हरिपाद तथा पश्चिम बंगाल में राजारहाट विष्णुपुर (कोलकाता) केन्द्रों का शुभारम्भ किया गया। रामकृष्ण मठ के अन्तर्गत निम्नलिखित नयी गतिविधियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं – काँकुड़गाछी (कलकत्ता) केन्द्र द्वारा Personality development programme युक्त audio-visual का शुभारम्भ, बारासात (कोलकाता) केन्द्र द्वारा **भ्राम्यमान चिकित्सा-ईकाई** की शुरुआत, राजकोट केन्द्र द्वारा **नेत्र चिकित्सा केन्द्र** का शुभारम्भ, अल्सूर (बैंगलोर) केन्द्र द्वारा युवा-जागृति कार्यक्रम का शुभारम्भ।

भारत के बाहर मठ द्वारा सेन्ट पिटर्सबर्ग (रूस) में एक नये केन्द्र की शुरुआत की गयी। दक्षिण अफ्रीका में डरबन केन्द्र द्वारा terminally-ill रोगियों के लिए ३५-शय्याओं वाले चिकित्सा का निर्माण किया गया। जर्मनी केन्द्र द्वारा फ्रैन्कफुर्ट के नजदीक Muehlheimam Main में अधिगृहित नये मकान में गतिविधियों का स्थानान्तरण किया गया। जापान केन्द्र के द्वारा वेदान्त, श्रीरामकृष्ण के शिष्यों तथा भागवत विषयों पर जापानी में तीन पुस्तकों का प्रकाशन किया गया। **बंगलादेश** में **मैमनसिंह केन्द्र** के द्वारा **कम्प्यूटर प्रशिक्षण केन्द्र** का शुभारम्भ, दिनाजपुर केन्द्र के द्वारा एक विद्यार्थी भवन का निर्माण तथा **ढाका** केन्द्र द्वारा निम्न माध्यमिक विद्यालय को माध्यमिक विद्यालय में उन्नीत किया गया।

इस वर्ष के दौरान **मठ** और **मिशन** ने ६.२० करोड़ रुपये खर्च करके देश के कई भागों में बृहत् तौर पर राहत तथा पुनर्वास के कार्य किये जिससे १६१६ गाँवों के २.४९ लाख परिवारों के १०.२९ लाख लोग लाभान्वित हुए। निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति, वृद्ध, बीमार एवं असहाय लोगों को **आर्थिक सहायता** आदि कल्याण-कार्यों में ९.५४ करोड़ रूपये व्यय हुए। १५ अस्पतालों, ५३ भ्राम्यमान चिकित्सा-ईकाइयों तथा १२५ डिस्पेनसरियों के माध्यम से ७९.०५ लाख से अधिक रोगियों को चिकित्सा-सेवा प्रदान की गयी, जिसके तहत ७७.५३ करोड़ रुपये खर्च हुए। हमारे शिक्षा-संस्थानों के द्वारा, बाल-विहार से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक ४.८४ लाख विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की गयी। **शिक्षा-कार्य** के लिये १४४.५३ करोड़ रूपये खर्च किये गये। २६.१३ करोड़ रुपये के लागत पर **ग्रामीण एवं आदिवासी विकास-योजनाओं** का भी कार्यान्वयन किया गया।

इस अवसर पर हम अपने सदस्यों एवं मित्रों के प्रति उनके हार्दिक एवं निरन्तर सहयोग के लिये आन्तरिक धन्यवाद एवं कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

स्वामी प्रभानन्द

२० दिसम्बर २००९ — महासचिव